वर्ष ३३] * * * [अङ्क ८

रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०१६, अगस्त १९५९

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–अशोकवाटिकामें रावणका श्रीसीताजीपर कोप [कविता] ...	१०८९
२–कल्याण ('शिव') ...	१०९०
३–विनिपात या अवतरण (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ...	१०९१
४–मानवके चार प्रकार (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ...	१०९४
५–इन्द्रियों और मनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद, संयम और वैराग्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	१०९५
६–बड़ा कैसे हुआ जाय ? (श्रीदुर्गेश) ...	१०९९
७–स्वयंप्रकाश ब्रह्मसुख (अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती) ...	११००
८–कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य विषय (श्रीनलिनीकान्त गुप्त, श्रीअरविन्दाश्रम) ...	११०४
९–मृत्युका रहस्य (पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, वेद-धर्मशास्त्र-मीमांसा-दर्शनाचार्य)	११०६
१०–भगवान्के स्नेहसे मेरा जीवन मधुर शान्तिका लहराता समुद्र बन गया है ...	११०७
११–प्रार्थनाका महत्त्व और उसका स्वरूप (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी) ...	११०८
१२–उनकी वस्तु उन्हें दे दो [कविता]	११०९
१३–मधुर ...	१११०
१४–मेरा सर्वस्व [कविता] ...	११११२
१५–मनुष्यको सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बनानेवाली दैवी सम्पदाएँ (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ...	१११३
१६–महासती सावित्री (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर) ...	११२०
१७–सच्ची वकालत (श्रीकेशवदेवजी आचार्य)	११२५
१८–भगवान्की अहैतुकी कृपासे मैं परम शान्ति, परमानन्द, परम निर्भयता, परम निश्चिन्तता एवं परम पवित्रताके सुरम्य क्षेत्रमें विचरण कर रहा हूँ ...	११२८
१९–सद्यः श्रेयस्करी शरणागति (श्रीश्रीकान्तशरणजी) ...	११२९
२०–भोग और भगवान् (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ...	११३३
२१–अधिदेवता [कहानी] (श्री 'चक्र') ...	११३५
२२–क्षुरस्य धारा [कहानी] (श्रीराधाकृष्ण)	११३७
२३–विश्वकी बढ़ती जनसंख्या और उसके भोजनके प्रश्नका हल (सर चार्ल्स डार्विनका मत) ...	११३९
२४–पशु-पक्षियोंके साथ एकात्मता और मैत्री (बहिन कु० रैहाना तैयबजी) ...	११४१
२५–अब भगवान् ही मेरे एकमात्र काम्य हैं	११४१
२६–साधकोंके उद्गार ...	११४२
२७–शाकाहारके चमत्कार (श्रीमगनलालजी पी० जोशी) ...	११४३
२८–पढ़ो, समझो और करो ...	११४७
२९–सनातन भगवदीय अंशका विकास करना ही मेरा परम कर्तव्य है ...	११५२

चित्र-सूची

तिरंगा

१–अशोकवाटिकामें रावणका श्रीसीताजीपर कोप १०८९

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)	जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥ जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥ जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥	साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

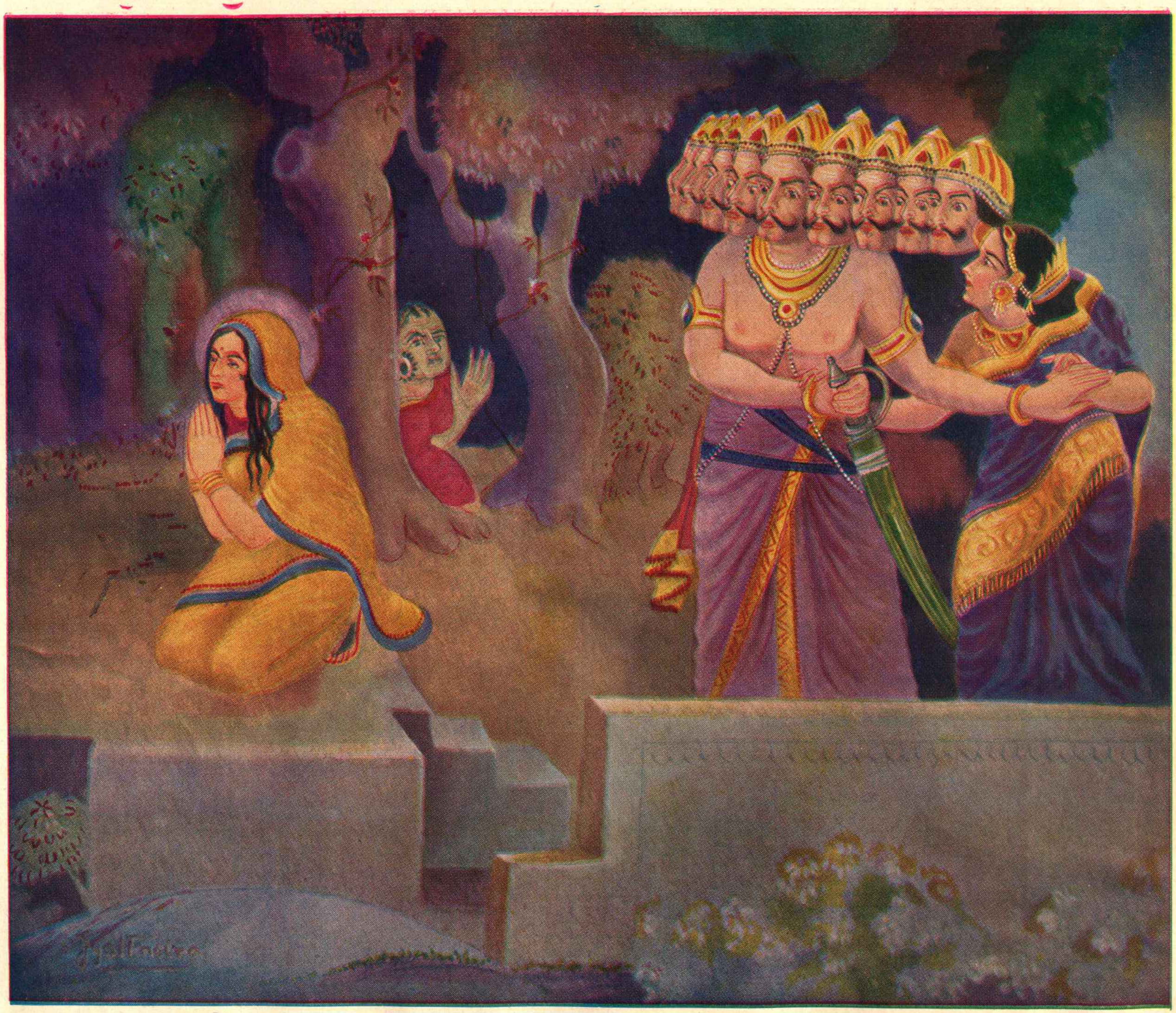

अशोकवाटिकामें रावणका श्रीसीताजीपर कोप

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

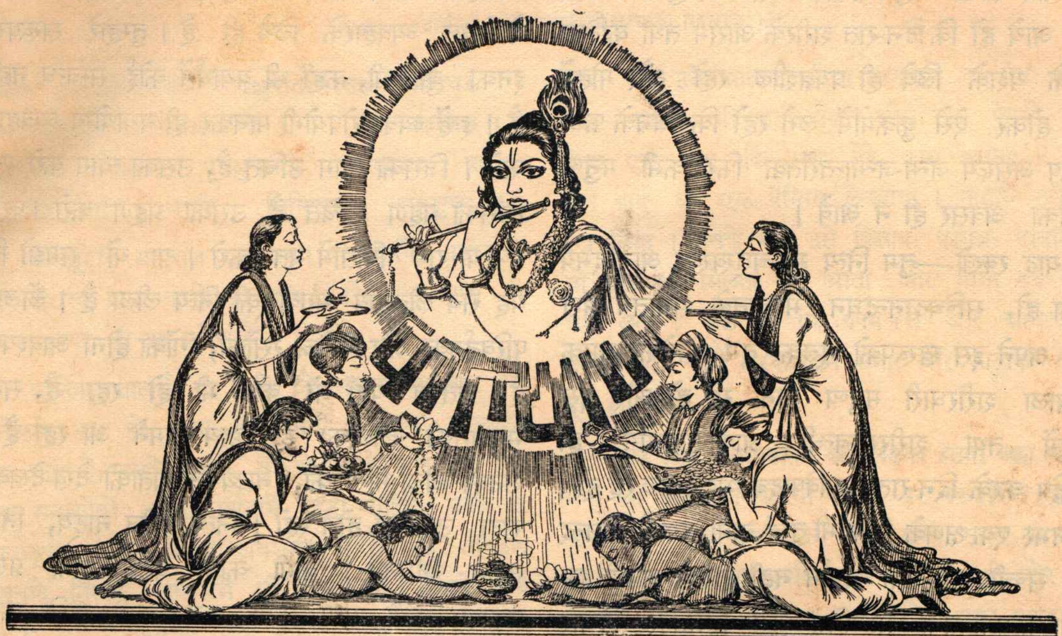

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०१६, अगस्त १९५९ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ३९३

अशोकवाटिकामें रावणका श्रीसीताजीपर कोप

सोरठा

सीता अति कृस गात, सुमिरत मन रघुबंसमनि ।
आयहु मन इतरात, दसमुख मंदोदरि सहित ॥
अधम निलज्ज अपार, कहे बचन निंदित अमित ।
सीता दै फटकार, बोली—'चुप रहु नीच ! खल' ॥
रावन कर अति क्रोध, कर अति कठिन कृपान लै ।
धायहु असुर अबोध, सीतहि मारन मंदमति ॥
मयतनया धरि हाथ, अति बिनीत कहि नीति सुचि ।
गई लेइ निज साथ, कोह-मोह-रत रावनहिं ॥

कल्याण

याद रक्खो—तुम संसारमें इसलिये मनुष्य बनकर नहीं आये हो कि दिन-रात शरीरके आराम तथा कल्पित नामके यशके लिये ही प्रयत्नशील रहो और मोहमें अंधे होकर ऐसे कुकर्मोंमें लगे रहो कि जिनके फल-स्वरूप असंख्य जन्म-जन्मान्तरोंतक फिर कभी मनुष्य बननेका अवसर ही न आवे।

याद रक्खो—तुम नित्य सच्चित्स्वरूप आनन्दमय आत्मा हो, सच्चिदानन्दघन भगवान्के सनातन अंश हो। अपने इस स्वरूपको भूलकर तुम अपनेको अमुक नामवाला शरीरधारी मनुष्य मान रहे हो और इस शरीरमें तथा शरीरसम्बन्धी प्राणी-पदार्थोंमें ही राग-द्वेष करके दिन-रात भय-विषादकी भट्ठीमें जल रहे हो। जीवनभर एक क्षणके लिये भी तुम्हें कभी यथार्थ आनन्द तथा सच्ची शान्तिके दर्शन नहीं होते। अपनी इस मिथ्या कल्पना तथा भ्रमजनित बुरी स्थितिपर विचार करो और गहराईसे सोचकर अनुभव करो कि तुम यह शरीर नहीं हो, तुम यह नाम नहीं हो।

याद रक्खो—जबतक तुम इस शरीर और नाम-को ही अपना स्वरूप मानते रहोगे, तबतक तुम्हें कभी सुख होगा ही नहीं; क्योंकि यह शरीर तथा इसके सम्बन्धी सभी प्राणी-पदार्थ अनित्य, परिवर्तनशील, क्षणभंगुर तथा अपूर्ण हैं। इनका वियोग और विनाश होगा ही। तुम्हारा जो अनन्त, नित्य, शाश्वत स्वरूप है, वह नित्य अविनाशी अपरिवर्तनीय और पूर्ण है। उसीमें अपनेको स्थित करो। फिर चाहे संसारमें, शरीरमें, नाममें, शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले प्राणी-पदार्थ तथा परिस्थितिमें कुछ भी परिवर्तन हो जाय, तुम सदा आत्मानन्द या भगवदानन्दमें ही स्थित रहोगे। तुमपर किसीका कोई भी असर नहीं होगा।

याद रक्खो—यहाँ न कुछ भी तुम्हारा है, न पराया है। अपना-पराया मानकर ही तुम राग-द्वेषके वश हो जाते हो। जबतक प्रारब्धवश शरीर है, तबतक व्यवहारके लिये सब चीजें तुम्हें यथायोग्य प्राप्त हैं। ये केवल व्यवहारके लिये ही हैं। तुम्हारे स्वरूपसे इनका कुछ भी, कहीं भी यथार्थमें कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्हें व्यवहारोपयोगी मानकर ही यथायोग्य व्यवहार करो। जिसका त्याग उचित है, उसका त्याग करो एवं जिसका ग्रहण उचित है, उसका ग्रहण करो। परंतु द्वेष या राग किसीमें मत करो। या यों समझो कि यह सब लीलामय भगवान्की नित्य लीला है। लीलामें परिवर्तनका और विभिन्न रसोंका, रंगोंका होना आवश्यक है। अतएव यहाँ जो कुछ भी हो रहा है, सभी भगवान्की लीलाका ही दृश्य सामने आ रहा है। उनकी लीला-भंगिमाको, नाट्य-निपुणताको देख-देखकर सदा उल्लसित होते रहो। नित्य नवीन नाट्य, नित्य नवीन अभिनय! कभी काली घटा, कभी प्रखर प्रकाश; कभी मृत्यु, कभी जन्म; कभी हानि, कभी लाभ; कभी अयश-अकीर्ति, कभी यश-कीर्ति; कभी अपमान, कभी सम्मान; कभी अप्रिय प्रसंग, कभी प्रिय प्रसंग—ये सभी लीलाके ही विविध अङ्ग हैं। वस्तुतः एक लीलामय भगवान्के अतिरिक्त और कुछ भी है ही नहीं।

याद रक्खो—जो मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें लीलामय भगवान्को, भगवान्की लीलाको अथवा नित्य एकरस सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही देखता है, वही यथार्थ देखता है। सर्वत्र समभावसे व्याप्त भगवान् या आत्माको देखनेवाले उस पुरुषकी स्थिति नित्य चिदानन्दमय-स्वरूप ही रहती है। वह जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त हो जाता है। यही मानव-जीवनका परम ध्येय है।

याद रक्खो—इस परम ध्येयकी प्राप्तिके लिये ही तुम मनुष्य बनकर संसारमें आये हो। अतः संसारमें यथायोग्य व्यवहार करते हुए सदा सावधानीके साथ इस ध्येयकी प्राप्तिके प्रयत्नमें लगे रहना ही तुम्हारा परम कर्तव्य है। इससे कभी किसी अवस्थामें भी विचलित न होओ। अपने ध्येयको निश्चितरूपसे प्राप्त कर लो।

'शिव'

विनिपात या अवतरण

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथ वा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥

श्रीभर्तृहरि महाराज एक समय भारतवर्षके सम्राट् थे और वैराग्य प्राप्त करके नव नाथ-सिद्धोंमें एक नाथ हो गये। उनका ही यह श्लोक है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य एक बार भी विवेकसे भ्रष्ट हो जाता है, अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन कर जाता है, उसके पतनके सैकड़ो मार्ग खुल जाते हैं। सब मनुष्योंको अपनी मर्यादामें रहना चाहिये। मर्यादाका उल्लङ्घन करनेसे विनाश अवश्यम्भावी है। यह तो हम जगत्के नित्यके व्यवहारमें भी देखते हैं। राजाके लिये उसकी मर्यादा होती है, उसी प्रकार प्रजाके लिये भी होती है। गुरुको अपनी मर्यादामें रहना पड़ता है, तब शिष्य अपनी मर्यादाका पालन करता है। सर्प अपनी मर्यादाके अनुसार मुँहसे काटते हैं और बिच्छू अपनी मर्यादामें रहकर पूँछसे डंक मारता है; क्योंकि प्रकृतिने उसकी पूँछमें विष दे रक्खा है और सर्पके मुँहमें। सूर्य अपनी मर्यादामें रहकर ही उष्णता प्रदान करता है और चन्द्र अपनी मर्यादामें ही घटते-बढ़ते रहकर शीतलता और अमृत प्रदान करता है। इस प्रकार मर्यादा सृष्टिका एक अकाट्य सिद्धान्त है, इसलिये इसका पालन अनिवार्य है। इसलिये मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवालेका शतमुख पतन होना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार महाराज भर्तृहरिने जो सिद्धान्त उपस्थित किया है, वह सौ टंचके सोनेके समान है। यह बात एक दृष्टान्तके द्वारा समझिये। एक छोटा-सा गाँव था, उसमें एक विधवा और उसका एक पाँच-सात वर्षका बालक रहते थे। घरकी स्थिति बहुत ही दीन थी, इसलिये वह विधवा बेचारी दूसरोंके घर काम-काज करके अपना निर्वाह करती थी।

बालक कुछ बड़ा हुआ, तब उसको विद्यालयमें भेजा गया। पाँच-सात दिनके बाद वह लड़का एक पेन ले आया और उसे माताको दिया। माताने वह पेन कहाँसे लाया—इतना भी नहीं पूछा और उस पेनको रख लिया एवं कहा कि 'यह तेरे काम आयेगी।' थोड़े दिन बाद वह एक पेन्सिल ले आया। माताने उसे भी रख लिया। उसके बाद उसे किताब, कागज, दावात—जो कुछ भी मिलता ले आता और माता सब संग्रह कर लेती। पीछे तो वह रुपये-पैसे और खाने-पीनेका सामान भी चोरी करके लाने लगा और माताकी गरीबी दूर हो गयी।

कुछ दिन बीतते-बीतते वह लड़का इतना पक्का चोर हो गया कि बड़ी-बड़ी चोरियाँ करता, पर पकड़में न आता। एक दिन राजाके खजानेमें चोरी करते समय वह पकड़ा गया; और जब यह साबित हो गया कि जो चोर बहुत दिनोंसे पकड़ाता नहीं था, वही चोर आज पकड़ा गया है, तब राजाने उसे फाँसीकी सजा दे दी।

फाँसीकी सजामें ऐसा नियम होता है कि जब अपराधीकी फाँसीका दिन आता है, तब उससे पूछा जाता है कि उसकी क्या इच्छा है। और यदि वह अपनी इच्छा बतलाता है तो उसकी पूर्ति की जाती है। नियमानुसार उस चोरसे भी पूछा गया तो वह बोला—'मुझको अपनी माँसे मिलना है।' उसकी माँ बुलायी गयी। वह लड़का उसके पास गया और बिना कुछ बोले-चाले उसकी नाकको दाँतोंसे काट लिया और बोला—'माँ! जिस दिन मैं पेन चुराकर लाया, उसी दिन यदि तूने मुझको तमाचा मारा होता, और किसी भी वस्तुको न लानेकी शिक्षा दी होती तो आज मुझे फाँसीके तख्तेपर चढ़ना न पड़ता। सच बात तो यह है कि फाँसीकी सजा तुझको ही होनी चाहिये, क्योंकि अपराध तेरा है। अब तो चोरी मैंने की है, इसलिये फाँसीके तख्तेपर मुझे लटकना है।' इतना कहकर अपने आप फाँसीकी रस्सी अपने गलेमें पहनकर लटक गया और शान्तिसे प्राण त्याग कर दिये।

इस प्रकार विवेक-भ्रष्ट होनेसे विनाश होनेकी कहानियाँ तो व्यवहारमें प्रतिदिन आती हैं, तथा विवेककी मर्यादामें रहनेसे जीवन सफल होनेके दृष्टान्त भी सामने आते हैं। सूक्ष्म-

दृष्टिसे देखनेपर यह बात ठीक समझमें आ जाती है। एक समय मेरे गृहस्थाश्रमके मित्र एक व्यापारी भाई मेरे पास अचानक आ पहुँचे। बालकके ऊपर घरके वातावरणकी कैसी छाप पड़ती है, ऐसा कोई प्रसङ्ग चल रहा था। उस समय उन्होंने एक आपबीती बात सुनायी, जिसका सारांश इस प्रकार है। "मैं सात-आठ वर्षकी उम्रका था। उस समय अपने मित्र-बन्धुओंके साथ मैं गुल्ली-डंडा खेलता था। एक दिन किसीके घरके पास एक बढ़िया डंडा पड़ा हुआ दीख पड़ा। मैंने सहज स्वभाववश उसे ले लिया। मेरे हाथमें दो डंडे देखकर मेरी माँने मुझसे पूछा—'यह दूसरा डंडा कहाँसे लाया?' मैंने कहा—'अमुक लड़केके घरके पास रास्तेपर पड़ा था, उसको मैंने ले लिया और घर ले आया हूँ।' माँने मेरे हाथसे डंडा छीनकर दो डंडे मेरे जमा दिये और धमकाती हुई वह बोली—'जा, जहाँसे लाया है, वहीं अभी रख आ। आगेसे यदि किसीकी वस्तुपर हाथ रखा तो जीता नहीं छोड़ूँगी।' बस, स्वामीजी! उस दिनका बोध—वह एक दिनकी शिक्षा ऐसा अद्भुत काम कर गयी कि आज व्यापारी जीवनमें भी मेरी नैतिकता ज्यों-की-त्यों बची हुई है। और चाहे कैसा भी प्रलोभन हो उसे मैं ठोकर मार सकता हूँ। धन्य है वह माँ! ऐसी हजारों लाखों सुमाताएँ धन्य हैं।"

इसपर इतना तो कहना ही पड़ेगा कि भर्तृहरिने जो सिद्धान्त उपस्थित किया है, वह ठीक जनसमाजका अनुभव करके ही किया है और इसके दिन-प्रति-दिनके दृष्टान्त भी राजाके जाननेमें आये ही होंगे। अब सिद्धान्तकी दृढ़ताके लिये दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि गङ्गाजी पहले तो स्वर्गमें थीं, वहाँसे वे शंकरके सिरपर पड़ीं। शिवजीके सिरसे पर्वतके ऊपर गिरीं और वहाँसे पृथ्वीके ऊपर आयीं। इस प्रकार नीचे उतरते-उतरते, कुछ पहाड़ियोंपर चढ़कर कुछ दरारोंको भरती हुई, जंगलोंको पार करती समुद्रमें पहुँच गयीं।

दृष्टान्त सदा सिद्धान्तके अनुरूप होना चाहिये और सिद्धान्तकी पुष्टि करनेवाला होना चाहिये तथा यथार्थ भी होना चाहिये। प्रस्तुत दृष्टान्त ठीक है या नहीं, इसे देखना है। इसके लिये पहले गङ्गाजीका माहात्म्य देखिये और पश्चात् यह देखिये कि गङ्गाजीका धरा-धामपर आना कैसे हुआ।

गङ्गाजीका माहात्म्य और उनके अवतरणके प्रसङ्ग तो सभी पुराणोंमें होंगे। किसी पुराणमें एक प्रसङ्ग विस्तारपूर्वक दिया होता है तो किसीमें कम। परंतु मूल कथा तो सबमें एक-सी होती है। नारदपुराणमें गङ्गाजीका माहात्म्य इस प्रकार वर्णित है—

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शते स्थितः।
सोऽपि मुच्येत पापेभ्यः किमु गङ्गाभिषेकवान्॥
विष्णुपादोद्भवा देवी विश्वेश्वरशिरे स्थिता।
संसेव्या मुनिभिर्देवैः किं पुनः पामरैर्जनैः॥
अहो माया जगत्सर्वं मोहयत्येतदद्भुतम्।
यतो वै नरके यान्ति गङ्गानाम्नि स्थितेऽपि हि॥
सकृदप्युच्चरेद्यस्तु गङ्गेत्येवाक्षरद्वयम्।
स पापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति॥

अर्थात् सैकड़ों योजनकी दूरीसे जो 'गङ्गा-गङ्गा' कहकर पुकारता है, वह भी पापोंसे मुक्त हो जाता है; तब फिर भला, स्नान करनेवाला क्यों न मुक्त होगा? गङ्गाजी विष्णुभगवान्के चरणोंसे उत्पन्न हुई हैं तथा शंकरजीके सिरपर स्थित हैं; मुनिगण तथा देवगण उनकी सेवा करते हैं, फिर पामर मनुष्योंकी तो बात ही क्या? अहो! कैसे आश्चर्यकी बात है कि माया सारे जगत्को मोह रही है, जो गङ्गानामके रहते हुए लोग नरकमें जा रहे हैं अर्थात् गङ्गानाम लेकर भी मुक्त नहीं हो रहे हैं। जो मनुष्य एक बार भी 'गङ्गा' इन दो अक्षरोंका उच्चारण करता है, वह सब पापोंसे छूटकर विष्णुलोकको प्राप्त होता है।

अब जिसके स्मरणमात्रसे मनुष्यके पाप जल जाते हैं और उसको अमूल्य मुक्ति मिलती है, उसके विषयमें कहें कि 'उसका विवेकसे भ्रष्ट होनेपर शतमुख विनिपात हुआ' तो कहाँतक उचित होगा, इसका विचार पाठकोंको स्वयमेव करना चाहिये।

गङ्गाजीके अवतरणकी कथा इस प्रकार है। सगर राजाके साठ हजार पुत्र थे। उन्होंने एक बार अश्वमेध यज्ञ किया। नियमानुसार यज्ञका घोड़ा छोड़ दिया गया। उसको इन्द्र पकड़कर ले गया और समुद्रके तटपर कपिल मुनिके आश्रमके पास ले जाकर बाँध दिया। घोड़ेको न देखकर सगरके पुत्र सारी पृथ्वीको खोदते हुए चारों ओर घूम आये। अन्तमें एक ऋषिके आश्रमके पास घोड़ेको बँधा हुआ देखा। राजकुमार रोषमें भरकर ऋषिको

गाली देने लगे और मनमानी तिरस्कारकी बातें बकने लगे। ऋषि तो समाधिमें थे, इसलिये इस कोलाहलका उनके ऊपर कोई असर न हुआ। इससे राजकुमारोंको और भी क्रोध आया और वे ऋषिके ऊपर प्रहार करने लगे। ऋषिकी समाधि भङ्ग हो गयी। उनकी आँखोंके खुलते ही उसमेंसे प्रचण्ड अग्नि निकली और देखते-देखते सगर राजाके साठो हजार पुत्र जलकर भस्म हो गये।

इधर घोड़े और कुमारोंका जब कोई समाचार नहीं आया, तब राजा सगरने अपने पौत्र अंशुमान्‌को घोड़ेका पता लगानेके लिये भेजा। अंशुमान् उन राजकुमारोंके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करते हुए चला। चलते-चलते उसने एक ऋषिके आश्रमके पास घोड़ा बँधा हुआ देखा। अंशुमान् विनयपूर्वक ऋषिके पास गया, उनकी प्रदक्षिणा की और दण्डवत्-प्रणाम करके खड़ा हो गया। ऋषिने उसपर प्रसन्न होकर सारी कहानी कह सुनायी और कहा कि 'यह घोड़ा तू ले जा और अपने दादाको दे, जिससे उनका यज्ञ पूरा हो।'

यह सुनकर अंशुमान्‌ने कहा—'हे प्रभो! मेरे पितृव्य लोगोंको आपके कोपसे अधोगति प्राप्त हुई है; उनके उद्धारका कोई मार्ग बतलाइये, जिससे मैं उनका उद्धार करके भाग्यशाली बन सकूँ।' ऋषिने उत्तर दिया—'अंशुमान्! वह काम बहुत कठिन है, मनुष्यसे नहीं हो सकता। तू इसका आग्रह न कर।' अंशुमान्‌ने कहा—'प्रभो! आपकी कृपासे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। आप मार्ग बतलाइये।' उसका अडिग निश्चय देखकर कपिल मुनि बोले—'यदि स्वर्गसे गङ्गाजीको पृथ्वीपर उतार सको और उनके जलका स्पर्श इनके देह-भस्मसे हो जाय तो इनका उद्धार हो सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।' अंशुमान्‌ने दोनों हाथ जोड़कर दण्डवत्-प्रणाम किया और घोड़ेको लेकर घरकी ओर चला। घोड़ा आनेसे राजा सगर प्रसन्न हुए और उनका यज्ञ पूरा हुआ।

अंशुमान् अपने पुत्र दिलीपको तपश्चर्या चालू रखनेकी अनुमति देकर तप करने निकल पड़े। तप करते-करते उनका शरीरपात हो गया। उनके पीछे उनका पुत्र दिलीप भी उनके कथनानुसार व्यवस्था करके तप करने चला गया। तप करते-करते उसका शरीर भी छूट गया। और उसके बाद उसके पुत्र भगीरथने तप करना शुरू किया।

तीन-तीन पीढ़ीके तपके बाद गङ्गाजी प्रसन्न हुईं और भगीरथको वरदान माँगनेके लिये कहा! भगीरथने गङ्गाजीसे पृथ्वीके ऊपर पधारकर अपने पितरोंका उद्धार करनेकी प्रार्थना की। गङ्गाजीने कहा—'अच्छा, मैं पृथ्वीके ऊपर तो आऊँगी, पर मेरे वेगको सहन करनेवाला कोई चाहिये; क्योंकि मैं सीधी पृथ्वीके ऊपर पड़ूँगी तो पृथ्वी फट जायगी, जिससे मेरा प्रवाह पातालमें चला जायगा और तुम्हारा कार्य सिद्ध नहीं होगा अतएव मुझको रोकनेके लिये शंकरजीसे प्रार्थना करो।' भगीरथ शंकरजीकी शरणमें गये और तप करके उनको प्रसन्न किया। शंकरजीने जब उन्हें वर माँगनेके लिये कहा, तब भगीरथने गङ्गाजीको अपनी जटामें रोक लेनेके लिये उनसे विनती की। शंकरजीने 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दे दी।

इस प्रकार गङ्गाजी स्वर्गसे शंकरकी जटामें आयीं और उनका प्रवाह निकलकर शिवजीकी एक लटमेंसे भगीरथके साथ-साथ उनके पितरोंकी जहाँ राख पड़ी थी, वहाँ गया। उस राखके ऊपर गङ्गाजलके गिरनेसे सगरपुत्रोंका उद्धार हो गया और गङ्गाजी समुद्रमें मिल गयीं। यह है गङ्गाजीके अवतरणकी कथा।

गङ्गाजीका स्वर्गसे पृथ्वीपर आगमन हुआ है तीन-तीन पीढ़ीकी तपस्याके बाद, और वह भी लोक-कल्याण करनेके लिये। इसलिये उनका विवेकभ्रष्ट होनेसे विनिपात हुआ—यह कहा जा सकता है या नहीं, यह प्रश्न ही नहीं रहता।

महाकवि कालिदासने भी एक श्लोकमें यही सिद्धान्त उपस्थित किया है। उसे अब देख लें, जिससे पाठकको दोनों दृष्टान्तोंमें तुलना करनेकी सुविधा हो। उनके श्लोकमें शब्द भिन्न हैं, पर भाव तो एक ही है। वे कहते हैं—'नास्ति भ्रष्टे विचारः।' मर्यादाकी एक भी सीढ़ी उल्लङ्घन करनेसे मनुष्यकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है और वह विनाशकी अन्तिम सीढ़ीपर जा गिरता है। यह है वह श्लोक—

भिक्षो कन्था श्लथा ते नहि शफरिवधे जालमश्नासि मत्स्यान्
ते मे मद्योपदंशाः पिबसि च मदिरां वेश्यया यासि वेश्याम्।
दत्त्वाङ्घ्रिं मूर्ध्न्यरीणां तव किमु रिपवो भित्तिभेत्तास्मि येषां
चौरोऽसि द्यूतहेतोस्त्वयि सकलमिदं नास्ति भ्रष्टे विचारः॥

प्रसङ्ग यह है कि कालिदास एक साधुके वेशमें भोज

राजाके पास माँगनेके लिये गये। उस समय निम्नलिखित संवाद उनके बीच प्रारम्भ हुआ—

राजा—हे यति! तुम्हारी यह गुदड़ी फटी जान पड़ती है।

यति—नहीं, यह गुदड़ी नहीं है, मछली पकड़नेका जाल है।

राजा—तो क्या तुम साधु होकर मछली खाते हो?

यति—मैं शराब भी पीता हूँ, इसलिये उसके साथ मछली बिना नहीं चलता।

राजा—परंतु साधुको तो शराब नहीं पीना चाहिये।

यति—मैं तो शराब पीता हूँ और वह भी वेश्याके साथ।

राजा—तो क्या तुम वेश्याके पास भी जाते हो?

यति—मुझे किसका भय है? मैं शत्रुओंके सिरपर पैर रखकर धड़ल्लेसे निकल जाता हूँ।

राजा—तो क्या आपको मेरी तरह शत्रु भी हैं?

यति—शत्रु होनेका कारण यह है कि मैं जुआ खेलता हूँ और उसमें पैसा चाहिये, इसलिये चोरी भी करता हूँ।

राजा—हे यति! तुम्हारे अंदर तो सारे दुर्गुण एक साथ आकर बैठे हुए दीखते हैं।

यति—'नास्ति भ्रष्टे विचारः।' एक बार मर्यादा छोड़ दी तो फिर वह एकदम नीचेके तलपर पहुँच जाता है, ऐसा प्रकृतिका नियम है; इसलिये मेरी भी यही दशा हुई है।

सिद्धान्त दोनों श्लोकोंमें एक ही है। दृष्टान्त दोनोंमें पृथक्-पृथक् हैं। इन दोनोंको पाठकोंके सामने उपस्थित किया है। योग्यायोग्यका निर्णय स्वयं कर लें।

ॐ शान्तिः।

मानवके चार प्रकार

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

समय सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। कहना चाहिये, सम्पत्तिसार है। इसे लेकर मानव चार प्रकारका है।

जो औरोंको गिरते-उठते, डूबते-उतराते देखकर ही 'क्या करना, क्या न करना' के मर्मसे अवगत होकर, इस उड़ती चिड़ियाके पर पहचानकर, एक क्षण भी व्यर्थ न खोकर लक्ष्य-सिद्धिकी अपनी राहपर लग जाता है, लगा रहता है सतत एकनिष्ठासे, वह मानव मानवोंकी परम्परामें 'महामानव' है; प्रकाश-स्तम्भ बनकर युग-युगतक पथ आलोकित करता रहता है भूले-भटके मानवोंका।

जो स्वयं तो न सही, पर अन्य अनुभवियोंके कहते-बताते रहनेपर सदैव निष्ठापूर्वक जीवन-लक्ष्यकी राहपर लगा रहता है, गिरते-उठते आगे ही बढ़ता जाता है, वह और कुछ नहीं तो कम-से-कम 'मानव' अवश्य है।

और जो किसीके कहने-बतानेपर भी कान नहीं देता, उल्टे कहने-बतानेवालोंकी खिल्ली उड़ाते हुए स्वयं ही मनमाने ढंगसे गलत-सलत चल-चलकर ठोकरें खाता है और उन ठोकरोंके बलपर ही कुछ सीखता है—राहपर लगता है, पर्याप्त समयका इस प्रकार अपव्यय करके, वह मानव होते हुए भी पशु है, पशु मानव-चोलेमें।

परंतु जो ठोकरें खा-खाकर भी नहीं सीखता—ठीक राहपर नहीं लगता, ठोकरोंमें ही मस्त है—भले ही जन-जनकी दृष्टिमें घृणा अथवा दयाका पात्र बना, उसे—उस समयके रूपमें स्वयंकी ही बेदर्दीसे हत्या करनेवाले आत्म-हत्यारेको क्या कहा जाय। पशुसे भी गया-बीता है वह तो। आत्महत्या तो पशु भी नहीं करते।

तो ये हैं चार प्रकार मानवके। अब देख लीजिये अच्छी तरह निरीक्षण-परीक्षण करके कि आप कहाँ हैं। विचार लीजिये यह भी कि होना कहाँ चाहते हैं और होना कहाँ चाहिये। चाह और चाहियेका समन्वय करके, उन्हें बिल्कुल एक जानकर फिर पकड़ लीजिये राह—सही ही राह—अविलम्ब, इसी क्षण; क्योंकि समय सदा चालू है, अल्प है और लौटकर नहीं आता।

इन्द्रियों और मनका विषयोंसे सम्बन्धविच्छेद, संयम और वैराग्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

परमात्माकी प्राप्तिमें ये तीन बातें बहुत ही सहायक हैं—

१. इन्द्रियों और मनको अपने-अपने विषयोंसे रोकना अर्थात् उनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना।

२. इन्द्रियों और मनको अपने वशमें कर लेना।

३. मन-इन्द्रियोंके विषयरूप इस संसारसे तीव्र वैराग्य करना।

इनमें इन्द्रियों और मनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी अपेक्षा उनको अपने वशमें करना विशेष लाभदायक है; क्योंकि मनको वशमें किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योगकी सिद्धि सम्भव नहीं।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बतलाया है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
(६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

इन्द्रियोंका नियन्त्रण मनके नियन्त्रणके अन्तर्गत ही है; क्योंकि भगवान्ने पहले इन्द्रियोंको वशमें करनेके पश्चात् मनको वशमें करनेकी बात गीता अध्याय ३ श्लोक ४१, ४३ में कही है।

मन-इन्द्रियोंको वशमें करनेकी अपेक्षा संसारसे वैराग्य करना और भी उत्तम है; क्योंकि वैराग्यसे ही मन वशमें होता है (गीता ६। ३५)। जब वैराग्यसे मन ही वशमें हो जाता है, तब उससे इन्द्रियाँ वशमें होनेकी तो बात ही क्या है? तथा वैराग्यसे ही मन और इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद भी हो जाता है।

वैराग्यके बिना कर्मयोग, भक्तियोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग—किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं होती। वैराग्य होनेसे ही ये सब साधन सिद्ध होते हैं; क्योंकि साधनमें वैराग्य ही प्रधान है।

भगवान्ने गीतामें वैराग्य—आसक्तिके अभावसे ही कर्मयोगकी सिद्धि बतलायी है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥
(६। ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें समस्त संकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।'

इसी प्रकार भक्तियोगके साधनमें भी भगवान्ने आसक्तिके अभावरूप वैराग्यकी आवश्यकता दिखलायी है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
(गीता १५। ३ का उत्तरार्ध)

'इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर (परमपदरूप परमेश्वरके शरण हो उनको खोजना चाहिये)।'

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः। (गीता १५। ५ का प्रथम चरण)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है (वे ज्ञानीजन अव्ययपदको प्राप्त करते हैं)।'

मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। (गीता ११। ५५ का दूसरा चरण)

'जो मेरा भक्त और आसक्तिसे रहित है (वह मुझको प्राप्त होता है)।'

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
(गीता १४ । २६ का पूर्वार्ध)

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है (वह ब्रह्मको प्राप्त करनेमें समर्थ है) ।'

क्योंकि भक्तियोगके साधकको भगवान्‌में अनन्य प्रेम हुए बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि किसी भी पदार्थमें ममता और प्रीति है तो वह अनन्य भक्ति नहीं, वह तो भक्तिमें कलङ्क है ।

इसी प्रकार अष्टाङ्गयोगकी सिद्धि भी वैराग्यसे ही होती है । चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको योग कहते हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । (योगदर्शन १ । २)

उन चित्तवृत्तियोंके निरोधका उपाय महर्षि पतञ्जलिजीने यों बतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । (योगदर्शन १ । १२)

'उन चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है ।' अतः चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगमें भी वैराग्य प्रधान है । तथा आगे जाकर श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

तीव्रसंवेगानामासन्नः । (योगदर्शन १ । २१)

'जिनके अभ्यास-वैराग्यरूप साधनकी गति तीव्र है, उनकी (निर्बीज समाधि) शीघ्र सिद्ध होती है ।'

तीव्र वैराग्यसे ही तीव्र संवेग होता है और तीव्र वैराग्यको ही 'पर-वैराग्य' बतलाया गया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।
(योगदर्शन १ । १६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है, वह 'पर-वैराग्य' है ।'

इससे ज्ञानकी प्राप्ति शीघ्र होती है ।

ऐसे ही ज्ञानयोग-निष्ठाकी सिद्धिमें भी वैराग्यकी प्रधानता है । गीतामें ज्ञानयोगकी परा-निष्ठाका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने प्रधानतासे नित्य ध्यानयोगके परायण रहने और वैराग्यका आश्रय लेनेका ही आदेश दिया है—

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।
(गीता १८ । ५२ का उत्तरार्ध)

'निरन्तर ध्यानयोगके परायण और भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला पुरुष (ब्रह्मकी प्राप्तिमें समर्थ है) ।'

तथा गीता अध्याय १३ श्लोक ७ से ११ तक जो ज्ञानके बीस साधन बतलाये गये हैं, उनमें भी वैराग्यका बार-बार वर्णन किया गया है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
(गीता १३ । ८, ९का पूर्वार्ध)

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव तथा ममताका न होना—(ये सब ज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं) ।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि मन-इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद, मन-इन्द्रियोंका संयम और संसारसे तीव्र वैराग्य—इन तीनोंमें वैराग्य ही प्रधान है ।

देखनेमें भी आता है कि जब-जब चित्तमें वैराग्य होता है, तब-तब स्वतः ही साधन तेज होने लगता है और मन-इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही संसारके पदार्थोंसे उपरत होकर परमात्मामें अनायास लग जाती हैं । तथा वैराग्यके बिना तो प्रयत्न करनेपर भी मन परमात्मामें कठिनतासे ही लग पाता है और लगकर भी स्थिर नहीं रहता । अतः वैराग्यके बिना परमात्माकी प्राप्तिके किसी भी साधनकी सिद्धि होनी कठिन है ।

एवं मन-इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भी वैराग्यके बिना स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त नहीं होती । भगवान्‌ने कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
(गीता २ । ५९)

'इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।'

मन-इन्द्रियाँ वशमें होनेपर भी यदि संसारसे वैराग्य नहीं है तो उसका कल्याण होना कठिन है। योगदर्शन-के विभूतिपादमें बतलाया गया है—

त्रयमेकत्र संयमः । (योगदर्शन ३ । ४)

'किसी एक ध्येय विषयमें धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंका होना 'संयम' है।'

किंतु मन-इन्द्रियाँ वशमें हुए बिना इन तीनोंकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। तथा इस 'संयम' के द्वारा ही हर प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये सभी सिद्धियाँ आत्मकल्याणमें विघ्न हैं। अतः इनसे वैराग्य होनेपर ही मनुष्यका संसार-सागरसे उद्धार हो सकता है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।
(योगदर्शन ३ । ५०)

'उपर्युक्त सिद्धियोंमें भी वैराग्य होनेसे दोषके बीजका नाश हो जानेपर कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है।'

इससे यही सिद्ध हुआ कि मन-इन्द्रियोंके संयमकी अपेक्षा वैराग्य ही श्रेष्ठ है।

वैराग्य—रागके अभावसे द्वेषका अभाव तो स्वतः ही हो जाता है; क्योंकि जहाँ राग नहीं है, वहाँ द्वेष सम्भव नहीं। अनुकूलमें रागबुद्धि होनेसे ही तो प्रतिकूलमें द्वेषबुद्धि होती है। महर्षि पतञ्जलिजीने पञ्चक्लेशोंमें रागके बाद ही द्वेषका उल्लेख किया है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।
(योगदर्शन २ । ३)

'अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (चेतन और जडकी एकता), राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरनेका भय)—ये पाँचों (दुःखप्रद होनेके कारण) 'क्लेश' हैं।'

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम् .... ।
(योगदर्शन २ । ४)

'ऊपर जिनका वर्णन अविद्याके बाद किया गया है, उन अस्मिता आदि चारों क्लेशोंका कारण अविद्या है।'

अतः अविद्याके नाशसे अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन चारोंका नाश हो जाता है, इस न्यायसे रागके नाशसे द्वेष और अभिनिवेशका स्वतः ही नाश हो जाता है।

इसलिये गीतामें केवल आसक्तिके नाशसे ही परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(गीता ३ । १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

कर्मयोगके साधनमें मन-इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध रहते हुए भी राग-द्वेषका अभाव और मन-इन्द्रियाँ वशमें होनेपर साधकका कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियों-द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी

प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

इसी प्रकार भक्तियोगके साधनमें भी भगवान्‌के शरण हो जानेपर मन-इन्द्रियोंके द्वारा कर्म करते हुए भी भगवत्कृपासे कल्याण हो सकता है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गीता १८। ५६)

'मेरे परायण हुआ पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है।'

इसी प्रकार ज्ञानयोगके साधनमें भी मन-इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ भी साधक परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

भगवान्‌ने कहा है—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
(गीता ५। ८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निस्संदेह यह माने कि मैं कुछ भी नहीं करता।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
(गीता १४। १९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

फिर भी साधकको उचित है कि मन-इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संसर्ग न करे; क्योंकि इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर वे इन्द्रियाँ मनुष्यके मनको बलात् हरण कर लेती हैं। फिर मन और इन्द्रियाँ—ये दोनों मिलकर इसकी बुद्धिको हरण कर लेते हैं, जिससे इसका पतन हो जाता है।

भगवान्‌ने कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
(गीता २। ६०)

'अर्जुन! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं।'

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
(गीता २। ६७)

'क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरण करती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त (साधनरहित) पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है।'

इसलिये साधकको इन्द्रियों और विषयोंके संसर्गसे सदा दूर ही रहना चाहिये; क्योंकि इन्द्रियाँ विद्वान् पुरुषके भी चित्तको मोहित करके विषयोंकी ओर आकर्षित कर लेती हैं। श्रीमनुजीने बतलाया है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥
(मनु० २। २५१)

'मनुष्यको चाहिये कि माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योंकि बलवान् इन्द्रियोंका

समूह विद्वान्‌को भी (विषयभोगकी ओर) खींच लेता है ।'

देखनेमें भी आता है कि कोई सुन्दरी युवती स्त्री सामने आनेपर मनुष्य उसे देखने लगता है तो मन उसे धोखा देता है कि देखनेमात्रमें कोई थोड़े ही पाप है; परंतु देखते-देखते मन उसमें रस लेने लगता है और फिर उसमें पापबुद्धि होकर उसका पतन हो जाता है। इसी तरह जिह्वा-इन्द्रियके विषय—मेवा, मिष्टान्न, फल आदि मधुर और रुचिकर पदार्थोंके प्राप्त होनेपर मन धोखा देता है कि इनको खानेमें कोई हानि नहीं है, किंतु उनका उपभोग करनेपर उनमें स्वाद और सुखबुद्धि होकर वह उसमें फँस जाता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयोंमें भी समझ लेना चाहिये तथा साधकको विषयोंके संसर्गसे सदा सावधान रहना चाहिये। भगवान् गीतामें कहते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(गीता २ । ६८)

'इसलिये महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसी-की बुद्धि स्थिर है।'

केवल मनसे विषयोंका चिन्तन भी साधकके लिये सारे अनर्थोंका मूल है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता २ । ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें बाधा पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

अतएव साधकको मन और इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध जितना कम-से-कम हो, वैसी चेष्टा करनी चाहिये। यदि संसर्ग करना हो तो मन-इन्द्रियोंको वश-में करके और ममता तथा राग-द्वेषसे रहित होकर या भगवान्‌के शरण होकर अथवा भगवान्‌के तत्त्वको समझकर संसर्ग करना चाहिये। यही कल्याणका मार्ग है।

बड़ा कैसे हुआ जाय ?

सभी बड़ा बनना चाहते हैं, किंतु बड़ा बना कैसे जाय और बड़ापन है क्या वस्तु ? क्या उम्रका बड़ा होना ही बड़ापन है ? यदि किसी बूढ़ेसे किसीका हृदय संतुष्ट नहीं हो सकता तो वह बड़ा होना किस कामका ? यदि धनसे किसीको बड़ा माना जाय तो वह धन किस कामका, जिससे किसीकी भी भलाई न हो; वह विद्या भी कैसे बड़ी, जिससे किसीका उपकार न हो सके ? बड़ोंका मन बड़ा होता है—हृदय बड़ा होता है—समुद्र-जैसा जिसमें हर नदी, हर तूफान, हर तरङ्ग, अगणित जीव-जन्तु समा जाते हैं। ऐसे बड़ोंके दिलसे अपने दिलको मिलाओ—जैसे रामके दिलमें समाकर निषाद पवित्र, बंदर शिष्ट और राक्षस भक्त हो गये। श्रीकृष्णके दिलसे मिलकर स्त्रियाँ भी योगियोंकी गुरु बन गयीं। ऐसे बड़ोंके दिलसे अपने दिलको मिलाते चलो, जिन्होंने लोहेको पानी, पत्थरको नाव बनानेकी क्षमता सिखायी है।

मैं उपदेश नहीं दे रही हूँ, मुझमें इतनी शक्ति नहीं। मैं तो जिज्ञासा करती हूँ कि बड़ा कैसे हुआ जाय ?

—दुर्गेश

स्वयंप्रकाश ब्रह्मसुख

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

जीवमात्र सुख चाहता है—सुख भी ऐसा, जो सर्वदा मिले, सर्वत्र और सबसे, जिसके लिये परिश्रम न करना पड़े, जो पराधीन न हो एवं जिसका भान होता रहे। इतनी उच्च-कोटिकी महत्त्वाकाङ्क्षा होनेपर भी यह एक विचित्र बात देखनेमें आती है कि उसकी प्राप्तिके साधनके सम्बन्धमें सब एकमत नहीं हैं। कोई किसी देशमें पहुँचकर सुखी होनेका विश्वास रखते हैं तो कोई परिस्थितिविशेष उत्पन्न करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। कोई किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये क्रियाशील हैं तो कोई लोकहितकारी श्रमकी प्रतिष्ठामें ही लगे हुए हैं। कोई हाथ जोड़कर किसी दूसरेसे सुखकी भिक्षा माँग रहे है तो कोई चेतनाशून्य होनेका उपक्रम कर रहे हैं। जितने जीव, उतनी मति और उतने ही मत—जैसे कुएँमें ही भाँग पड़ गयी हो। सुखके लिये भोग करें कि संयम? त्याग करें कि संग्रह? कर्म करें कि संन्यास! नाचें-कूदें कि समाधि लगायें? किसीकी स्मृति करें अथवा सबका विस्मरण कर दें? होशमें रहें कि बेहोश हो जायँ? स्पष्ट देखनेमें आता है कि सुख चाहनेवाले इन विभिन्न स्थितियोंमें अपनेको डालकर सुखी होनेके लिये आशावान् एवं तत्पर हैं। इसका कारण क्या है? अपने इष्ट—सुखका ठीक-ठीक स्वरूप निर्णय न होनेसे तात्कालिक, अपूर्ण, श्रम-साध्य स्थिति और पराधीनता आदिमें ही अपना इष्ट सुख मिलनेकी भ्रान्तिसे ग्रस्त हो रहे हैं और शान्तिके स्थानपर श्रान्ति और क्लान्तिका अनुभव कर रहे हैं। सीमित देश-कालमें सीमित वस्तु, व्यक्ति और श्रमसे, सीमित चित्त-वृत्तिमें, सीमित 'अहं' को असीम सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सीमा असीमको आत्मसात् करनेमें असमर्थ है। तब क्या असीम श्रम ही इष्ट सुख है? नहीं-नहीं; श्रमकी प्रतिक्रिया तो विश्राम है, वह सुषुप्ति हो चाहे समाधि। तब अपने इष्ट सुखकी प्राप्तिके लिये हम किसका द्वार खटखटायें? निश्चय ही इष्टके स्वरूपको गम्भीरतासे यथार्थ रूपमें समझा नहीं गया है। आइये, एक बार सर्वदा, सर्वत्र और सर्वमेंसे 'अब' 'यहाँ' और 'यह' को अलग कर लें। आयास और याचना छोड़ दें। देखें, सुख भासता है या नहीं! यदि नहीं भासता है अर्थात् वह सुख 'अब' 'यहाँ' और 'यह' नहीं है तो वह सर्वदा, सर्वत्र रहनेवाला सर्वरूप कैसे होगा? वह तो अनायास सिद्ध और अपराधीन भी नहीं होगा। निश्चय ही अपने इष्ट सुखको पहचाननेमें भूल हो रही है। हम सर्वदा रहनेवाला सुख चाहते हैं और उसको अब और अबसे पहले भी नहीं मानते हैं; सर्वत्र सुख चाहते हैं, परंतु उसको यहीं अपरोक्षरूपसे नहीं पहचानते, सिद्ध रूपसे चाहते हैं और उसके लिये आयास, स्थिति अथवा कृपाकी अपेक्षा एवं प्रतीक्षा करते हैं। यह एक बौद्धिक असंगति, असमञ्जस विचार अथवा भ्रान्तिका विलास है। इष्ट सुखकी प्राप्तिके लिये यही दूर होना चाहिये।

वस्तुतः हम भासमान सुख चाहते हैं; क्योंकि सुख-की परोक्ष-सत्ता होती ही नहीं। वह जब होता है, तब अपरोक्ष ही होता है। अपरोक्षताका अर्थ प्रमाण और प्रमेयके व्यवहारसे होनेवाली अपरोक्षता नहीं, साक्षिभास्य अपरोक्षता है। साक्षी स्वयं सुखस्वरूप होनेपर भी अविद्यावृत्तिसे अर्थात् अपनी ब्रह्मताका ज्ञान न होनेके कारण सुखको अन्यरूपसे प्रकाशित करता है। इसीसे भास्यगत अवस्थाओंके परिवर्तनके कारण सुखका भी परिवर्तन मान बैठता है और स्वप्नवृत्ति, जाग्रत् वृत्तिसे तादात्म्यापन्न होकर अपनेको कभी सुखी, कभी दुखी मानने लगता है।

यह विचार करने योग्य है कि हम चित्तवृत्तिके किसी सविषय, निर्विषय आकारविशेषको ही तो सुख मानने नहीं लगते! यदि ऐसा है तो वह आकारविशेष औपाधिक होगा, कालिक होगा, दैशिक होगा। इसलिये आकारविशेषमें और आकारविशेषसे सुखकी उपलब्धि भ्रान्ति सिद्ध होगी। इसका अभिप्राय यह है कि जीवको जैसा सुख इष्ट है, वह कोई संसारी आकार नहीं, प्रत्युत उससे सर्वथा रहित है। केवल ऐसा सुख ही दैशिक, कालिक, सविषय, निर्विषय आकारोंमें परिवर्तन होते रहनेपर भी—सृष्टि और महाप्रलयके प्रचण्ड ताण्डवमें भी अविनाशी, एकरस और परिपूर्ण रह सकता है। तत्त्वदृष्टिसे सुख भानमात्र ब्रह्म है। व्यावहारिक सुखकी क्षणिकतासे भानमात्र सुख-ब्रह्म क्षणिक नहीं हो सकता; क्योंकि क्षणिकता उपलब्धिका विषय है और सुख उपलब्धिस्वरूप, अकाल, अदेश और अविषय है। इसका तात्पर्य यह है कि उपलब्धि ही ब्रह्म है और ब्रह्म

अविनाशी सत्; सर्वावभासक, परिपूर्ण, चित् तथा जीव-मात्रका इष्ट और सुखस्वरूप प्रज्ञान ही है। किस कालमें, किस देशमें, किस स्थितिमें, किस रूपमें, श्रमसे या बिना श्रमसे, किसीके दिये या बिना दिये, होशमें या बेहोशीमें, किस आकार या आकारभावकी उपलब्धि हो रही है—इससे कोई प्रयोजन नहीं है। वे सभी उपलब्धियाँ प्रज्ञानमात्रसे भिन्न तो हैं ही नहीं, परिणाम भी नहीं है। प्रज्ञानके तात्त्विकरूपसे विपरीत बर्तनेके कारण उन्हें विवर्त तो कहा जाता है; परंतु परमार्थतः वे सब प्रज्ञान ब्रह्म-स्वरूप ही हैं।

प्रज्ञान क्या है? प्रकृष्ट ज्ञान। ज्ञानमें प्रकृष्टता अथवा श्रेष्ठता है उसकी शुद्धि। लोक-व्यवहारमें ज्ञान शब्दका प्रयोग ज्ञेय और ज्ञातासे युक्त अर्थमें ही होता है। ज्ञानका विषय है ज्ञेय और अभिमानी है ज्ञाता। ज्ञेय घट है, ज्ञाता जीव है, ज्ञान दोनोंके बीचकी कड़ी है। यहाँ प्रमाण-वृत्ति अथवा करणके अर्थमें ज्ञान शब्दका प्रयोग होता है। वस्तुतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनोंमें तत्तदवच्छिन्न चेतनके एक होनेके कारण शुद्ध ज्ञान ही तीन रूपों और तीन नामोंके द्वारा व्यवहृत होता है। व्यवहारमें ही द्वैत-त्रैत हैं, परमार्थमें नहीं। इन्हींकी निवृत्तिके लिये व्यावहारिक अद्वैताकारवृत्तिमें ज्ञान शब्दका प्रयोग होता है। लोक-व्यवहारमें ऐसा कोई ज्ञान नहीं हो सकता, जिसका कोई-न-कोई विषय न हो और कोई-न-कोई अभिमानी न हो। यद्यपि तत्त्वदृष्टिसे मिश्रदशामें विद्यमान ज्ञान भी शुद्ध ही है, तथापि अज्ञानकी निवृत्ति हुए बिना द्वैतका मिथ्यात्व नहीं होता और उसकी केवलता आवृत रहती है। अज्ञानदशामें भासमान यह त्रिपुटी ही ज्ञानमें आरोपित अशुद्धि है। इस अशुद्धिके निराकरणके लिये ज्ञानके शुद्धस्वरूपका निरूपण आवश्यक है। वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय सापेक्ष नहीं हैं। ज्ञान ज्ञेयके अभावको भी प्रकाशित करता है। अभाव अधिष्ठानसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अधिष्ठानके अज्ञानपर्यन्त ही उस-की भिन्नता रहती है। ज्ञेय और ज्ञाता सापेक्ष हैं; क्योंकि जब कोई ज्ञेय होगा, तब उसका कोई-न-कोई ज्ञाता भी होगा। ज्ञान और ज्ञाता सापेक्ष नहीं हैं। ज्ञान ज्ञातृत्वके अभावका भी प्रकाशक है। ज्ञान और ज्ञान भी सापेक्ष नहीं हैं, क्योंकि ज्ञान तो एक ही है। इसलिये ज्ञेयत्व और ज्ञेयत्वाभाव, ज्ञातृत्व और ज्ञातृत्वाभाव—इन सबसे अपरिच्छिन्न, इनमें परिपूर्ण, इनका अधिष्ठान और इनका प्रकाशक जो स्वयं-प्रकाश ज्ञान है, वह किसीके प्रति सापेक्ष नहीं है। वह भेदमात्र-का प्रकाशक अधिष्ठान है; भले ही वह भेद दैशिक-कालिक, सजातीय-विजातीय, स्वगतरूप वस्तु-सम्बन्धी अथवा विशेष ज्ञान या अज्ञानका हो। इसलिये ज्ञानका शुद्धस्वरूप ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित ही है। यहाँ 'ज्ञेय' शब्दका अर्थ दृश्यमात्र है और 'ज्ञाता' शब्दका अर्थ जीव और ईश्वर दोनों हैं; इसलिये जगत्, जीव और ईश्वरके विभागसे रहित, अपने लिये किसी दूसरे प्रकाश अथवा अधिष्ठानसे शून्य, असत् द्वैतका प्रकाशक अतएव प्रकाशत्वहीन प्रकाश ही अद्वितीय ब्रह्म है। यह अज्ञान-सापेक्ष भी नहीं है, क्योंकि यह उसका भी प्रकाशक ही है। अज्ञान अनिर्वचनीय है। वह परमार्थ दृष्टिसे सत् और व्यवहारदृष्टिसे असत् नहीं कहा जा सकता। अधिष्ठानमें आवरकरूपसे वह कल्पित है। कल्पित पदार्थसे स्वयंप्रकाश ज्ञानमें सापेक्षता नहीं आ सकती। सापेक्ष पदार्थ मिथ्या होता है और निरपेक्ष सत्य। यही निरपेक्ष सत्य ब्रह्म है तथा यही ब्रह्म उपनिषदोंमें 'प्रज्ञान' शब्दसे कहा गया है।

अब इस बातको और सरल रीतिसे समझनेका प्रयत्न करें। जैसे हमारे हाथमें यह माला है। माला ज्ञेय है, नेत्र इसके ज्ञानका करण है और नेत्रवाला 'मैं' इसका ज्ञाता है। वस्तुतः इस परिच्छिन्न ज्ञाताका जो अधिष्ठान चेतन है, वही ज्ञेयका भी है। नेत्रवृत्तिका भी अधिष्ठान वही चेतन है। उसकी अपरिच्छिन्नताका ग्रहण न होनेके कारण वह तीन रूपोंसे भास रहा है। अपरिच्छिन्नताका बोध होनेपर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—तीनोंकी आभासमात्रता स्पष्ट हो जाती है। इसलिये अधिष्ठान चेतनरूप प्रज्ञान सत्य है और परिच्छिन्न ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका भेदभाव अध्यस्त, मिथ्या एवं प्रतीतिमात्र है। यह जो माला, मोसम्बी, घड़ी, पुस्तक अलग-अलग भास रहे हैं, इनके ज्ञानके करण—नेत्र, त्वचा, रसना आदि अलग-अलग भास रहे हैं और भिन्न करणोंके अभिमानीके रूपमें विराजमान ज्ञाता पुरुष अलग-अलग भास रहे हैं—यह सब अद्वितीय प्रज्ञान-ब्रह्मका ही विवर्त्त है। विषय, करण अथवा विषयीके अलगावसे भासक चेतनका, जो कि भानमात्र ही है, टुकड़े-टुकड़े हो जाना अविचार-सिद्ध है। प्रज्ञानकी अखण्डताको न जानना अज्ञान है। अपनेको और विषयोंको खण्ड-खण्ड जानना भ्रान्ति है। इस भ्रान्तिके निराकरणके लिये प्रज्ञान पदार्थका शोधन उपयोगी है।

प्रज्ञान-ब्रह्ममें पृथक्-पृथक् भासमान त्रिपुटियोंको समझाने-के लिये सूर्यकी किरणोंकी उपमा देना उपयुक्त नहीं है;

क्योंकि यह तो एक परिपूर्ण पदार्थ है और सूर्य परिच्छिन्न। सूर्य एक स्थानमें रहता है, दूसरेमें नहीं। इसलिये वह जहाँ नहीं रहता है, वहाँ अपनी किरणें भेजता है। किसी कालमें सूर्य दीखता है, किसी कालमें नहीं। अन्यत्र अन्धकारके रूपमें उसका विरोधी भी विद्यमान है। उसके प्रकाश्य स्थावर-जंगम भी विद्यमान हैं। ऐसी स्थितिमें सूर्य अथवा चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रज्ञान-ब्रह्मकी किरणें नहीं हो सकतीं, जो देश, कालमें गतिशील होकर पदार्थका स्पर्श करें। तब ये त्रिपुटियाँ क्या हैं? निश्चितरूपसे ये चिदाभास हैं। प्रकाशक चेतन प्रकाशनके लिये भिन्न प्रकाश्य न होनेके कारण और अपनी अपरिच्छिन्नता एवं चेतनताके प्रकाशन-योग्य न होनेके कारण अपने आपको ही अपने स्वरूपसे विपरीतरूपमें प्रकाशित कर रहा है। जैसे आकाशकी अपरिमेयता जब नेत्रद्वारा प्रकाशित नहीं हो पाती, तब नीलिमाके रूपमें—निराकारताके विपरीत साकारताके रूपमें भासने लगती है। इसी प्रकार अपना प्रत्यगात्मा ही अविषय होनेके कारण पराक् विषयके रूपमें भास रहा है। चेतन जडके रूपमें, अविनाशी विनाशीके रूपमें, पूर्ण परिच्छिन्नके रूपमें, अद्वितीय द्वैतके रूपमें, स्व अन्यके रूपमें भासनेका एकमात्र कारण यही है कि स्वयं प्रज्ञान प्रज्ञानका विषय नहीं है। जो भी प्रज्ञानको विषय बनानेका प्रयत्न करेगा, वह प्रज्ञानको जड अथवा परिच्छिन्नरूपमें ही विषय करेगा। इसलिये वह प्रज्ञान न होकर प्रज्ञानका विवर्त ही होगा। इसीलिये श्रुति प्रज्ञानका शोधन करके उसको अन्यके रूपमें नहीं, शोधक जिज्ञासुके स्वरूपके रूपमें ही उपदेश करती है कि तुम्हीं प्रज्ञान ब्रह्म हो। इसीसे किसी भी कर्म, उपासना अथवा योगके फलरूपमें या किसी भी करणके विषय-रूपमें या स्वयं अपने ही भास्यरूपमें प्रज्ञानका साक्षात्कार नहीं हो सकता। सभी साधन अपने-अपने व्यावर्त्यकी व्यावृत्ति करके कृतार्थ हो जाते हैं। यहाँतक कि महावाक्यजन्य ज्ञान भी अज्ञानकी निवृत्तिके साथ-ही-साथ स्वयं निवृत्त अथवा बाधित हो जाता है और पूर्ववत् प्रज्ञान-ही-प्रज्ञान शेष रहता है।

प्रज्ञानमें व्याप्य-व्यापकभाव भी कल्पित रीतिसे ही है। तेजोबिन्दु श्रुतिने स्पष्टरूपसे कहा है—'व्याप्यव्यापकता मिथ्या।' इसको समझनेके लिये दृष्टान्त लीजिये—जैसे भूत, भविष्य, वर्तमान व्याप्य हैं और काल व्यापक। कितनी उपहासास्पद बात है कि जब कालसे भिन्न भूत, भविष्य, वर्तमान नामका कोई पदार्थ ही नहीं है, तब कौन किसमें व्याप्त होगा? वस्तुतः विषयनिष्ठ परिणामको देखकर ही, क्रमको स्वीकृति देकर कालमें त्रित्वकी कल्पना की गयी है। इस त्रित्वके अधिष्ठान कालको अथवा प्रकाशक चेतनको इस त्रित्वका कुछ भी पता नहीं है। यह मनुष्यकी बुद्धिका विलास है। इस बुद्धि-विलासको ही पारिभाषिक शब्दोंमें अध्यास कहते हैं। अब दूसरा दृष्टान्त लीजिये—विभाग-शून्य दिक्तत्त्वमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण या ऊपर, नीचेका विभाग सर्वथा कल्पित है। दिक्तत्त्वकी कल्पनासे उपहित चैतन्य अथवा उसके अधिष्ठानभूत सत्में दिग्-विभाग ही अनुपपन्न है। फिर भी विषयनिष्ठ विभाग अर्थात् घट-पटादि पदार्थोंकी लंबाई, चौड़ाई, गोलाई, बाहर-भीतर आदिकी सारी कल्पनाएँ दिक्तत्त्वके सिर मढ़ी जाती हैं। यह अन्यका अन्यपर आरोप है। क्या दिक्तत्त्वका पूर्व-पश्चिम, बाहर-भीतर आदिके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है? राम कहो! अपने स्वरूपके साथ किसी वस्तुका कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता, तादात्म्य भी नहीं। पूर्णका किसके साथ तादात्म्य हो? अब तीसरा दृष्टान्त लीजिये—एक अद्वितीय अखण्ड सत्तामें आकाशादिका विभाग न कालमूलक है, क्योंकि परिणाम नहीं है; न गतिमूलक है, क्योंकि क्रिया और देश नहीं है; और न तो स्वभावमूलक है, क्योंकि किसी भिन्न-से-भिन्न स्वभावका निरूपण ही सम्भव नहीं। नाम-रूपमूलक भी नहीं है, क्योंकि वे तो प्रमाण-प्रमेयके व्यवहार-कालमें ही होते हैं। तब असलमें कालमें वर्तमानादि विभागके समान और देशमें पूर्वादि विभाग-के समान ही मूलभूत सत्तामें पञ्चभूत और उसमें कल्पित नाम-रूप सर्वथा ही मिथ्या हैं। इसी बातको समझानेके लिये श्रुति, शास्त्र एवं महात्मागण स्वप्न तथा रज्जु-सर्पादिका दृष्टान्त देते हैं। त्वं-पदार्थशोधनमें स्वप्नका दृष्टान्त है, तत्-पदार्थशोधनमें रज्जु-सर्पका दृष्टान्त है और तत्त्वतः ऐक्यके बोधनमें कोई भी दृष्टान्त नहीं है। इसलिये प्रज्ञान ब्रह्मकी व्यापकता समझानेके लिये प्रत्यक् चैतन्यकी दृष्टिसे यह कहना उचित ही है कि स्वप्नके पदार्थ उस देश और कालमें भास रहे हैं, जब और जहाँ वे सर्वथा असत् हैं। इसी प्रकार प्रज्ञान ब्रह्ममें दृश्यमान प्रपञ्च सर्वथा मिथ्या है। साथ ही जैसे रज्जु-देशमें अपनी प्रतीतिके कालमें ही प्रतीयमान सर्प मिथ्या है, इसी प्रकार तत्-पदार्थरूप अखण्ड चेतन सत्तामें यह दृश्यमान प्रपञ्च प्रतीति-समकाल ही मिथ्या है। दृश्यमान प्रपञ्चका मिथ्यात्व निश्चय हो

जानेपर प्रत्यक्-चैतन्यरूप आत्मा और अधिष्ठान-चैतन्यरूप परमात्मामें भेद करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं रहती। वस्तुतः भेद ही प्रपञ्च है और यह अपने स्वरूपभूत प्रज्ञान-ब्रह्ममें बिना हुए ही भास रहा है। प्रज्ञान-ब्रह्ममें व्यापकता और व्याप्यता दोनो व्यवहारकी दृष्टिसे कल्पित हैं, परमार्थतः व्याप्तिमात्र ही हैं।

वेदान्तविचारमें अन्यमें अन्यकी व्याप्तिको व्यापकता नहीं कहते। लोहेमें अग्निकी व्यापकता अथवा दूधमें घीकी व्यापकता—ये सब दृष्टान्त वास्तविक व्यापकताके नहीं हैं; क्योंकि इनकी व्यापकता कालपरिच्छेद्य अथवा क्रिया-परिच्छेद्य है। वास्तविक व्यापकता तो उपादान कारणकी अपने कार्यमें उपस्थिति है। कार्य नष्ट होनेपर जिसमें मिल जाता है अर्थात् कार्य जिस धातुसे बना है, कार्यका आकार जिसमें गढ़ा गया है, कार्यमें उसके वजनके रूपमें जो उपस्थित है, उसीको उपादान कारण कहते हैं—जैसे घटमें मृत्तिका, तरङ्गमें जल, लपटमें अग्नि, प्राणमें वायु, घटाकाशमें महाकाश, स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टाकी दृष्टि। घट-मृत्तिकाके उदाहरणमें भी केवल मृत्तिका ही घटका उपादान नहीं है, बल्कि पञ्चभूत ही उसके उपादान हैं। इसलिये घटके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—सबमें पञ्चभूतोंकी उपस्थिति है। घट पञ्चभूतोंसे भिन्न नहीं है। घट फूट जानेपर भी पञ्चभूत रहता है। इसी तरह तरङ्ग, लपट आदिके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये। स्वप्नदृष्टिकी उपादानताका और रज्जु-सर्प-अधिष्ठानके अज्ञानसे होनेवाले कार्यके दृष्टान्त हैं। वे भी अपने उपादानसे भिन्न नहीं होते। प्रज्ञान-ब्रह्मकी व्यापकता समझानेके लिये इन सभी दृष्टान्तोंके उपयोगी होनेपर भी वस्तुतः उसकी व्यापकता ठीक-ठीक नहीं समझायी जा सकती; क्योंकि ये सब दृष्टान्त दृश्य अथवा जडसे सम्बद्ध हैं और प्रज्ञान-ब्रह्म चेतन है। जहाँ भी चेतन उपादान कारण होता है, वहाँ वह वस्तुतः कार्य-कारणके भेदसे रहित ही होता है।

इसलिये चेतनकी व्यापकता चेतनसे भिन्न अन्य पदार्थका न होना अर्थात् उसकी पूर्णता ही है।

कार्य-कारणरूप व्याप्य-व्यापकभाव दृश्यमें ही होता है, उसके प्रकाशक एवं अधिष्ठान चेतनमें नहीं। इसलिये दैशिक परिणाम, कालिक परिणाम और वैषयिक परिणाम मानना—तीनोका सम्बन्ध प्रज्ञान-ब्रह्मके साथ नहीं जोड़ा जा सकता। देशाभाव, कालाभाव और कार्यकारणाभावके अधिष्ठान प्रकाशक प्रज्ञान-ब्रह्ममें और प्रज्ञान ब्रह्मसे प्रकाशित देश, काल एवं विषय अधिष्ठाननिष्ठ अत्यन्ताभावके प्रतियोगी होनेके कारण मिथ्या हैं। दृश्यत्व, विकारित्व, परिच्छिन्नत्वके कारण भी वे स्वतन्त्र, अविनाशी तथा परिपूर्ण नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें प्रज्ञान-ब्रह्मकी उपलब्धिके लिये कब, कहाँ, किस रूपमें और किस रीतिसे अनुसंधान करना चाहिये ?

आश्चर्य है कि प्रज्ञान-ब्रह्मको ढूँढ़नेके लिये हम किसी समय, अवस्था एवं परिस्थितिकी प्रतीक्षा अथवा अपेक्षा करते हैं। क्योंकि जब वह अविनाशी है, कालकी कोई कला उससे खाली नहीं है, भूत-भविष्य-वर्तमानरूप कल्पित त्रित्वसे विलक्षण होकर भी वह इसमें परिपूर्ण है, उसीसे यह त्रित्व प्रकाशित है, अपनी मृत्यु, परिवर्तन, अभाव एवं जन्मकी कल्पना भी वह अपनेमें नहीं कर सकता, क्योंकि उनका साक्षी और प्रकाशक है, तब इसी क्षण, क्षणके अधिष्ठान और प्रकाशक-रूपमें उसकी उपलब्धि क्यों नहीं हो रही है ?

आश्चर्य है कि वह विषयनिष्ठ परिमाणमूलक देशकी कल्पना-जल्पनासे अल्प मात्रामें भी संस्पृष्ट न होनेपर भी, अन्तर्देश, बहिर्देश, अन्तराल देशके त्रित्वसे सर्वथा विनिर्मुक्त होनेपर भी, उस त्रित्वकी कल्पनाका अधिष्ठान एवं प्रकाशक होनेपर भी, अन्तर्मुखता, बहिर्मुखता आदि दैशिक अवस्थाओं, परिस्थितियों तथा गमनागमन, अणुत्व, विभुत्व, मध्यमपरिमाणत्व आदिसे सर्वथा रहित होनेपर भी, इसी समय इसी देशमें समय और देशकी परिच्छिन्नताके अधिष्ठान एवं प्रकाशकरूपसे क्यों नहीं उपलब्ध हो रहा है, जब कि वह अपनेमें कभी अपूर्णता, परिच्छिन्नता आदिरूप परिमाणको आरोपित ही नहीं कर सकता; क्योंकि वह देशकी भावाभावकी कल्पनाका साक्षी चिन्मात्र वस्तु है। उस उपलब्धिस्वरूप परिपूर्णकी उपलब्धिके लिये अन्तर्देशके निभृततम प्रदेशमें प्रवेशकी प्रतीक्षा और अपेक्षा क्यों है ? इसी देशमें उसका समीक्षण एवं निरीक्षण क्यों नहीं होता ?

आश्चर्य है कि इसी देशमें इसी समय जो भी आकार, विकार, प्रकार, संस्कार अनुभवके विषय हो रहे हैं, वे सब-के-सब अपने विवर्तो उपादान चेतनमें उसीके द्वारा प्रकाशित होनेपर भी और तत्त्वतः उससे अभिन्न होनेपर भी क्यों उससे भिन्न रूपसे बुद्धिके विषय हो रहे हैं, जब कि वह अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय चेतन सत्ता देश-कालसे रहित रूपमें सर्वके रूपमें भास रही है, जिसने कभी अपनेको विषय-विषयीके भेदसे युक्त अनुभव नहीं किया; क्योंकि विषय और विषयी दोनो ही भिन्न रूपसे प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः भिन्न नहीं हैं; ऐसी वस्तुस्थितिमें

जब कि कोई अन्य है ही नहीं, उसकी उपलब्धिके लिये प्रमाण-प्रमेयरूप व्यवहारकी क्या आवश्यकता है ? यदि वह घटादिके समान विषयी होता तो प्रत्यक्षकी, जगत्कर्ता ईश्वरके समान परोक्ष होता तो अनुमानकी, उसके सदृश कोई और होता तो उपमानकी, अज्ञातरूपसे अन्य होता तो आप्त वचनकी अपेक्षा होती । सुख-दुःख आदि मानस आभासोंके समान होता तो साक्षि-भास्यता होती । परंतु इस सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश, प्रज्ञान-ब्रह्मकी उपलब्धिके लिये किस करणकी अपेक्षा है, या कौन-सा नवीन करण उत्पन्न करना है जब कि वह कभी किसी वस्तुको अपनेसे भिन्न अनुभव करता ही नहीं और किसीके अनुभवका विषय होता ही नहीं ।

सब आश्चर्योंसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि हम प्रज्ञान-ब्रह्मको समाधि आदि किसी कालविशेषमें, ब्रह्मलोक आदि किसी देशविशेषमें और बुद्धिके विषय किसी आकारविशेषमें प्राप्त करना चाहते हैं । उत्क्रान्ति और गतिमें देश, चित्तके प्रतिलोम परिणाममें काल और तदाकारवृत्तिमें विषयविशेषका अतिक्रमण, उल्लङ्घन अथवा बाध नहीं हो पाता, इसलिये प्रज्ञान-ब्रह्मकी उपलब्धिमें ये सारी प्रणालियाँ साक्षात्-साधन नहीं बन सकतीं । जैसा कि पहले प्रज्ञान-ब्रह्मका निरूपण किया गया है, उसकी उपलब्धिके लिये शोधित अहमर्थकी उपलब्धि-प्रणाली ही सर्वोत्तम प्रणाली है; क्योंकि उसमें कालधर्म—मृत्यु, परिवर्तन आदिसे, देशधर्म—आन्तर-बाह्य आदिसे और विषय-धर्म—दृश्यता आदिसे विलक्षणता स्पष्टरूपसे प्रतिभात होती है । कोई भी अपने अभाव, जडता और अप्रियताका अनुभव नहीं कर सकता । इसलिये सुखस्वरूप प्रज्ञान-ब्रह्मकी उपलब्धिके लिये दैशिक, कालिक एवं वैषयिक आकारोंमें सुखकल्पना एवं सुखभावना करनेकी अपेक्षा प्रज्ञान-स्वरूप आत्मा (शोधित अहमर्थ) की ब्रह्मताके बोध द्वारा अविद्याकी निवृत्ति करके अपने स्वतःसिद्ध अद्वितीय सच्चिदानन्दघन ब्रह्मस्वरूपमें ज्यों-की-त्यों स्थिति ही अपने इष्ट सुखकी प्राप्ति है । केवल महावाक्य-श्रवणके द्वारा नित्य-निवृत्तकी निवृत्ति और नित्य-प्राप्त अपनी ब्रह्मताकी उपलब्धि होती है । इसके लिये पहले या पीछे साक्षात् साधन अथवा फलरूपसे किसी भी कर्तव्य कर्मका सम्बन्ध नहीं है ।

कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य विषय

[श्रीमाताजीके प्रवचनके आधारपर लिखित

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त, श्रीअरविन्दाश्रम)

(४)

शरीर चेतनाका विस्तार

हमारे शरीरकी क्रियाओंका क्षेत्र बहुत सीमित है । यदि तुम थोड़ा ध्यानपूर्वक देखो तो तुम देखोगे कि वह क्षेत्र वास्तवमें अत्यन्त संकीर्ण है और हमारी क्षमताएँ एक नन्हे-से वृत्तके अंदर आबद्ध हैं । हम अपने स्थूल शरीरके ढाँचेसे बँधे हुए हैं । उदाहरणार्थ, हम जब अपने कमरेमें बैठे रहते हैं, तब ठीक उसी समय खेलके मैदानमें व्यायाम भी नहीं कर सकते । अगर तुम एक कोई काम करना चाहो तो तुम दूसरा नहीं कर सकते; यदि तुम एक स्थानमें हो तो तुम साथ-ही-साथ किसी दूसरे स्थानमें नहीं रह सकते । कितना आसान होता यदि हम अपनी मेजपर लिखते समय तुरंत बिना चले-फिरे या किसीकी सहायता लिये दूर रखी आलमारीसे देखनेके लिये कोई पुस्तक ले लेते ! और फिर भी यह बात कितनी अधिक असम्भव है ! हमें ज्ञात है कि भूत-प्रेत बुलानेकी बैठकोंमें कितनी असाधारण—कम-से-कम विचित्र—बातें घटित होती हैं और उन्हें शरीरकी इन्द्रियोंकी साधारण क्रियाके द्वारा नहीं समझाया जा सकता । उनकी व्याख्या यह कह कर दी जाती है कि प्रेत-लोकके हस्तक्षेपके कारण वे घटित होती हैं । परंतु सच पूछा जाय तो उन मामलोंमें साधारणतया भूत-प्रेतोंका विशेष कोई हाथ नहीं होता । वे किसी मृतात्माकी क्रिया भी नहीं होतीं, बल्कि सामान्य मानवी शक्तियोंकी ही क्रिया होती हैं—विशेषतः प्राणगत या जीवनी-शक्तिकी क्रिया होती हैं, जो शरीरके बन्धनसे मुक्त होती और स्वतन्त्ररूपसे अपनी क्षमताका प्रयोग करती हैं । यहाँ जो कुछ मैं कहना चाहती हूँ उसे समझनेमें एक उदाहरण, जो कि एक सच्ची घटना है, अच्छी सहायता करेगा ।

पेरिसमें एक युवक रहता था, जो रेलवे स्टेशनपर क्लर्कका काम करता था । वहाँपर कभी-कभी उसकी माँ और उसकी प्रेयसी उससे मिलने आया करती थीं । एक दिन वह उनके आनेकी आशा करता था और रेलगाड़ीके आनेके

समयकी प्रतीक्षा कर रहा था। उस समय वह अपनी मेजपर बड़ी तल्लीनताके साथ काम कर रहा था; परंतु सहसा गाड़ी आनेके समयके लगभग उसके आसपासके लोगोंने देखा कि उसने एक चीखके साथ अपनी मेजपर झुककर सिर रख दिया और वहीं पड़ा रहा। वह एकदम अचेतन हो गया। इसी बीच दूसरी ओर एक भीषण रेलवे दुर्घटना हो गयी; वे दोनो स्त्रियाँ उस दुर्घटनामें पड़ गयीं। गाड़ीके डब्बे चकनाचूर हो गये और सभी यात्री निहत या सांघातिकरूपसे आहत हो गये। परंतु, विचित्र बात थी, उसकी प्रेयसी युवती स्त्री जीती हुई और लगभग बेदाग पायी गयी। वह जहाँ गिरी थी वहाँ उसके ऊपर एक लोहेकी धरन आ गिरी थी और उसके लिये उसके नीचे थोड़ीसी रक्षाकी जगह बन गयी थी और फिर धरनके ऊपर माल-मलबा आ गिरा था। कूड़ा-करकट हटाकर उसे बाहर निकाला गया और मुश्किलसे कहीं उसे जरा खुरचन लगी थी। परंतु अब सुनिये उस युवककी कहानी। उसने बतलाया कि जब वह अपनी मेजपर काम कर रहा था, तब उसने अचानक अपनी प्रेयसीकी आवाज सुनी जो सहायताके लिये उसे पुकार रही थी। उसने मानो एक चमकके अंदर उसकी सारी हालत देख ली और वह दौड़ पड़ा, अवश्य ही शरीरसे नहीं, और वहाँ पहुँचकर उसने अपनी प्रेयसीको बचानेके लिये उसके शरीरके ऊपर अपने-आपको फेंक दिया; बस इतना ही वह कर सका। इसके फलस्वरूप निस्संदेह उसने उसकी रक्षा की। सच है कि वह अपने शरीरसे नहीं दौड़ा; उस कार्यके लिये यदि वह शरीरसे दौड़ा होता तो उसका कोई फल न हुआ होता। उसके अंदरसे जो चीज निकल भागी, वह था उसका प्राण-देह, उस प्राण-शक्तिकी एक रचना जो शरीरके अत्यन्त निकट होती है और लगभग उतनी ही ठोस होती है जितनी कि शरीरकी शक्ति, पर होती है उससे बहुत अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली। उसके अंदरसे केन्द्रीभूत होकर निकली हुई यह प्राणशक्ति ही उस औरतको बचानेवाली सच्ची ढाल बन गयी। विचित्र बात एक यह हुई कि स्व॰ उस युवकके सिरपर घावके चिह्न उत्पन्न हो गये, मानो उसके सिरपर कोई बहुत भारी बोझ आ गिरा हो। प्राणशक्तिके ऊपर जब कोई प्रबल धक्का पहुँचता है, तब उसका दाग स्थूल शरीरपर भी पड़ सकता है और पड़ता ही है। यह कोई असामान्य घटना नहीं है। कहा जाता है कि बहुत-से ईसाई साधुओंके (जैसे असीसीके संत फ्रांसिसके) शरीरपर ईसाके शरीरके शूलीके चिह्न निकल आये थे। कहा जाता है कि रामकृष्णके सामने जब एक बच्चेपर कोड़े लगाये गये तो उन्होंने दिखाया कि उसके दाग उनकी पीठपर भी उठ आये थे।

इन सब बातोंका तात्पर्य यह है कि मनुष्यके लिये भौतिक जगत्में कार्य करनेका एकमात्र साधन स्थूलशरीर ही नहीं है; भौतिक शरीर अधिकाधिक सूक्ष्म क्रियाओंके अंदर फैलता और विस्तारित होता जाता है और फिर उसी कारण वह किसी अंशमें कम नहीं, बल्कि कहीं अधिक सफलरूपसे कार्य करनेके योग्य बनता जाता है। भौतिक शरीरके पीछे सूक्ष्म शरीर विद्यमान है, फिर उसके पीछे प्राण-शरीर है और फिर प्राणके विभिन्न स्तर हैं। निस्संदेह सम्पूर्णरूपसे प्राण-शक्ति ही हमारी सभी शारीरिक क्रियाओंको चलानेवाली सच्ची शक्ति होती है और यदि वह सामान्यतया अपने शरीर यन्त्रोंके द्वारा कार्य करती है तो वह इनसे स्वतन्त्र रहकर भी कार्य कर सकती है। सामान्य अवस्थाओंमें भी वह इस ढंगसे प्रायः ही कार्य करती रहती है। बस, हम उसे देखनेके लिये या तो सचेतन नहीं रहते अथवा उधर दृष्टि ही नहीं देते। अगर कोई सचेतन रूपसे अपनी प्राण-शक्तिपर एकाग्र हो और किसी स्थूल वस्तुपर उसका प्रयोग करे तो वह उसपर वैसे ही सफलतापूर्वक क्रिया कर सकता है जैसे कि कोई भौतिक शक्ति करती है। जब उस शक्तिको किसी भौतिक परिस्थितिकी आवश्यकता होती है, तब वह उसे उत्पन्न कर लेती है, जैसे कि उस युवककी संरक्षणकारिणी प्राण-शक्तिने भौतिक वस्तुओंकी एक ऐसी व्यवस्था कर ली जो उस लड़कीके लिये एक आश्रय बन गयी।

इस वर्तमान प्रसङ्गमें सारी घटना अपने-आप घटी; उससे सम्बन्धित लोगोंने पहलेसे उस बातपर कोई ध्यान नहीं किया; उन दोनोंके बीच समवेदना इतनी प्रबल थी कि उसके विरुद्ध अन्य कोई विचार नहीं उठे। यहाँ यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि यदि कोई ज्ञानपूर्वक इस गुह्य शक्तिपर अपना अधिकार जमाना चाहे तो उसे एक बड़ी लंबी और कठिन साधना करनी होगी। परंतु कठिन होनेपर भी उसे प्राप्त करना असम्भव नहीं है। शरीरकी क्रियाओंका भी जहाँतक सम्बन्ध है, कोई विशेष प्रकारका विकास इस समय तुम्हारी पहुँचके परे मालूम हो सकता है; परंतु यदि तुम अभ्यास करो और अनवरत लगे रहो, अटूट संकल्प बनाये रखो और सुयोग्य पथप्रदर्शन प्राप्त करो तो तुम केवल उस लक्ष्यतक ही नहीं पहुँच जाओगे बल्कि उससे भी कहीं

आगे चले जाओगे। ओलिम्पिक खेलोंमें जिन लोगोंने रेकर्ड तोड़े हैं, उनकी कहानियोंसे इस बातपर काफी प्रकाश पड़ सकता है। उसी तरह मनुष्य सूक्ष्म शक्तियोंको भी अधिकृत कर सकता है, यदि कोई सच्चे मनसे प्रयास करे और समुचित पथका अनुसरण करे। अवश्य ही ऐसा करना बहुत अधिक कठिन है—शायद उससे भी कहीं अधिक कठिन है; परंतु यदि किसीमें संकल्प-शक्ति हो तो उसका रास्ता भी अवश्य ही खुला हुआ है।

मृत्युका रहस्य

(लेखक—पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, वेदधर्मशास्त्र-मीमांसा-दर्शनाचार्य)

किसी भी स्थानका नाम उसकी विशेषतासे है। वहाँ उस विशेषताको जानना, समझना और तदनुसार चलना उचित और आवश्यक है। हमलोग मृत्युलोकमें हैं और हमारा नाम भी मर्त्य है। मृत्युलोकमें मृत्युको जानना, समझना और तदुपयोगी बर्ताव करना आवश्यक और उचित है। मृत्युका प्रसिद्ध अर्थ शरीरसे चेतनाशक्तिका अलगाव है। इसीको संस्कृतमें 'प्राणवियोगानुकूलव्यापार' शब्दसे समझाया जाता है। विचारक दार्शनिकोंकी दृष्टिमें चेतनशक्तिका स्रोत आत्मा अजर और अमर एवं व्यापक है। जिस प्रकार आकाश व्यापक, निर्मल एकरूप और नित्य है, परंतु उसे किसी सीमामें कर लिया जाय तो वह उसके भीतर रहकर उसके गुण-कर्मके प्रभावसे प्रभावित होता है और उस सीमाके नष्ट हो जानेपर वह सीमाके गुण-कर्म-प्रभावको अपनेसे अलग करके अपने स्वरूपमें प्रकाशित होता है। उसी भाँति आत्मा नित्य शुद्ध निर्विकार होते हुए भी कर्मफलरूपिणी वासनाओंकी सीमामें हो जाता है। तब वह जीवात्मा कहा जाता है। और उस जीवात्माका व्यवहारोपयोगी बाहरी आकार शरीर है। शरीरोंकी अनन्तता होनेपर भी उनके रचनाकी शैली विभिन्न रहती है। यही रचना-शैली 'योनि' कहलाती है। हिंदुओंकी समझमें विश्वमें ८४ लाख योनियाँ हैं। ये सभी योनियाँ भोगके लिये हैं। भोगका अर्थ 'किये कर्तव्योंका फल' है, वह चाहे दुःखरूप हो या सुखरूप। भोगसमर्थ शरीरमें चेतन आत्मा कर्मफलरूपिणी वासनाओंसे जब घिरा रहता है, तब वह शुद्ध होते हुए भी मन-इन्द्रिय आदिके गुण तथा कर्मोंसे प्रभावित-सा ज्ञात होता है। इसलिये जिसे आत्मज्ञान नहीं है, उसे सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला आत्मा ही जान पड़ता है, और किसीकी मृत्यु हो गयीका अर्थ उसका आत्मा शरीरसे अलग हो गया समझता है। 'एक शरीरसे प्राण छूटना मृत्यु है' इसके वास्तविक तत्त्वको दृढ़तासे समझ लिया जाय तब तो कहना ही क्या है; परंतु एक शरीरमें व्यक्तिको अनेको बार मृत्युका-सा ज्ञान होता है। इस अनेको बार जाने गये मृत्युके परिचयसे भी हमें मृत्युलोककी सच्ची शिक्षा मिलती है। यहाँ 'मृत्यु' का अर्थ अपने 'निश्चित स्वरूपसे डिगना' है। जिस व्यक्तिने अपने स्वरूपको जिस तरह समझ लिया, वह उस तरह रहनेका प्रयत्न करता है और अपनी इच्छाओंको पूर्ण करके आनन्दका अनुभव करता है। जहाँ इसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती या इच्छाके विरुद्ध काम हो जाता है तो इसे 'आत्मग्लानि' का अनुभव होता है। यह आत्मग्लानि ही 'व्यावहारिक मृत्यु' है। इस मृत्युके जान लेने और यह न हो सके, ऐसा उपाय कर देनेसे मनुष्य 'मृत्युंजय' हो जाता है और सांसारिक आनन्द पा सकता है। विषय गम्भीर है; फिर भी इसे समझना सरल है, पर समझनेके बाद बरतना और दृढ़ रहना अति कठिन है। इसलिये 'मृत्युका समझना' एक पहेली है। फिर भी हम कुछ शब्दोंमें इसे समझानेकी चेष्टा करते हैं। वह इस प्रकार है।

१. किसी व्यक्तिका कोई ढंग और रूपरेखा, आशा और कल्पना, सिद्धि और लक्ष्य निश्चित रहता है। ये ही तीन द्वन्द्व क्रमशः वर्ण, रति और प्रमोद हैं। इन वर्ण-रति-प्रमोदोंका निश्चित स्वरूप जहाँ उलट-पुलट होता है कि वहाँ वह व्यक्ति अपनी 'मृत्युका अनुभव' करता है। जीवनके सहायक व्यक्ति वर्ण-रति-प्रमोद—इन तीनोंका रूप बनाते हैं, इसलिये 'मित्र' हैं। जो इनमें बाधा देते हैं, वे ही 'शत्रु' हैं। इसीलिये कहा जाता है मित्र मृत्युसे बचाता है और शत्रु मृत्यु सामने खड़ी करता है।

२. मृत्युदायक और मृत्युनाशक उपायोंका एकत्र संकलन ही परिस्थिति है। इस संकलनको संतुलित करके अपने अनुकूल बनाना ही बुद्धिमानी है। साधारण पुरुष इसका संतुलन ठीक नहीं कर पाते। इसलिये वे केवल 'दैव-दैव' कहकर परिस्थितिके वशीभूत हो जाते हैं। मध्यम पुरुष संतुलन तो

कर लेते हैं पर परिस्थितिको अपने अनुकूल नहीं बना पाते। इसलिये वे 'धीर' हैं। उत्तम पुरुष परिस्थितियोंका संतुलन करके उन्हें अपने अनुकूल झुका लेते हैं, इसलिये वे 'वीर' हैं।

३–परिस्थितियोंका वशवर्ती होना 'आसुर धर्म' है, धीरता मानवधर्म है; पर वीरता देवधर्म है। इसीलिये उत्तम पुरुष देवता कहा जाता है। सभी मनुष्य सर्वदा जीवनभर एक ही धर्मसे रहते हों यह बात नहीं है। कभी देवता भी आसुर धर्मसे आक्रान्त हो जाते हैं, और कभी आसुर भी देवता बन जाता है। इसका स्पष्टीकरण और शिक्षण ही हिंदुओंका अवतारवाद है।

४–अवतारवादसे जो शिक्षा मिलती है,वह सब व्यावहारिक मृत्युकी ही शिक्षा है। सब अवतारोंमें शिक्षा रहते हुए भी शिक्षाप्रणाली सर्वजन-सुलभ नहीं थी। परंतु नन्दनन्दन भगवान् मदनमोहनजीके अवतारकी शिक्षा स्पष्ट और सर्वजन-सुलभ है। इसीलिये इनका भगवत्त्व और इनका भगवत्तत्त्वका उपदेश, गीता सभीके लिये सुलभ है।

५–गीतामें भी भगवान्‌ने 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' कहकर अर्जुनको अपनी मृत्युका परिचय कराया और ज्ञान देकर दूसरोंके मृत्युस्वरूपको स्पष्ट कर दिया और अन्तमें 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' कहलाकर यह भी बतला दिया कि 'मोहका नाश और स्मृतिकी प्राप्ति' से मृत्युपर विजय मिल सकती है।

६–मोहका नाश अर्थात् अपने वर्ण, रति और प्रमोदोंका क्षेत्र सीमित समझकर जो ममतावश प्रतिक्षण अज्ञानीको मृत्यु (इच्छाकी अपूर्णतावश होनेवाली आत्मग्लानि) का सामना करना पड़ता है, उसकी जड़को हटाना है। इसका सरल उपाय मनुभगवान्‌ने बताया है। किसी भी कार्यको करनेसे पहले अवस्था, कर्तव्य-शक्ति, विद्या और सहायक इनको समझ लेना चाहिये। इनके समझनेसे उचित कार्यमें उचित ढंगसे प्रवृत्ति होगी, फलतः अनावश्यक इच्छाकी अपूर्तिसे जो मृत्यु आत्मग्लानि उत्पन्न होती है, वह नहीं होगी।

७–स्मृतिलाभका अर्थ अपनी सत्ताको व्यापक बनाना है। इसीलिये मित्र व्यक्ति बाधक उपायोंकी निवृत्तिके लिये उपायसे विरोधीपर भी अपनी सत्ता जमाकर विजय पा जाते हैं।

८–बस इन मोह-नाश और स्मृति-लाभरूप उपायोंसे व्यक्ति मृत्यु (इच्छाकी अपूर्णताजन्य आत्मग्लानि) से बच सकता है और मृत्युंजय होकर अनन्त श्री, विजय और भूतिको तथा इनके स्वामी नारायणको प्राप्त कर सकता है।

भगवान्‌के स्नेहसे मेरा जीवन मधुर शान्तिका लहराता समुद्र बन गया है

आज मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि भगवान् सदा-सर्वदा मेरे साथ हैं। प्रकाश और अन्धकार—दोनोंमें ही, संसारकी अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनो परिस्थितियोंमें ही मैं अनुभव करता हूँ—भगवान् मेरे पास हैं और मैं भगवान्‌के स्नेहामृतसे सराबोर हूँ। भगवान्‌की विलक्षण शक्ति-सुधा-धारा प्रतिपल मेरे अणु-अणुमें प्रवाहित हो रही है, भगवदीय सहज दान मेरे समस्त अभावोंको पूर्ण कर रहा है और भगवान्‌का दयापूर्ण विधान मेरी सारी दुविधाओंको दूर कर रहा तथा शङ्काओंका समाधान कर रहा है। भगवान्‌की परमा शान्ति मेरे पूरे हृदयको सब ओरसे छाये जा रही है; इससे मेरे हृदयमें जो क्षोभ, जो अशान्ति थी, वह सर्वथा नष्ट हो गयी है। हृदय मधुर शान्तिका लहराता समुद्र बन गया है और उसकी सदा सुहावनी शीतल तरङ्गें सर्वत्र शीतलता एवं सरसताका संचार कर रही हैं।

भगवान्‌के स्नेहसे मेरा जीवन मधुर शान्तिका लहराता समुद्र बन गया है!

प्रार्थनाका महत्त्व और उसका स्वरूप

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी)

मानवमात्र शान्ति चाहता है—चिरशान्ति ! पर वह शान्ति है कहाँ ? संसार तो अशान्तिका ही साम्राज्य है । शान्तिके भंडार तो सर्वेश्वर भगवान् ही हैं । वे ही हमारे परम गति हैं और उनके पास पहुँचनेके लिये सत्य हृदयकी प्रार्थना ही हमारे पंख हैं । उनके अक्षय भंडारसे ही शान्ति और सुखकी प्राप्ति होती है ।

प्रार्थना कीजिये । अपने हृदयको खोलकर कीजिये । अपनी टूटी-फूटी लड़खड़ाती भाषामें ही कीजिये । भगवान् सर्वज्ञ हैं । वे तुरंत ही आपकी तुतली बोलीको समझ लेंगे । प्रातःकाल प्रार्थना कीजिये, मध्याह्नमें कीजिये, संध्याको कीजिये, सर्वत्र कीजिये और सभी अवस्थाओंमें कीजिये; उचित तो यही है कि आपकी प्रार्थना निरन्तर होती रहे । यही नहीं, आपका सम्पूर्ण जीवन प्रार्थनामय बन जाय ।

प्रभुसे माँगिये कुछ नहीं । वे तो हमारे माँ-बाप हैं । हमारी आवश्यकताओंको वे खूब जानते हैं । आप तो दृढ़ताके साथ उनके मङ्गल-विधानको सर्वथा स्वीकार कर लीजिये । उनकी इच्छाके साथ अपनी इच्छाको एक-रूप कर दीजिये । ईसामसीहकी तरह आप भी कह दीजिये—

"Thy will, not mine, be done" 'हे सर्वेश्वर ! मेरी इच्छा नहीं, तुम्हारी इच्छा, पूर्ण करो ।'

ऋषिकेशके गीता-भवनके सत्सङ्गमें परम पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज एक बहुत बढ़िया दृष्टान्त दिया करते हैं । मुझे तो वह बहुत प्रिय है, अतः संक्षेपमें उसे यहाँ उद्धृत कर देता हूँ ।

एक भक्त संत कहीं जा रहे थे । फटी लँगोटी थी और हाथमें एक जलपात्र । मस्त थे अपने प्रभुके पवित्र चिन्तनमें । चलते-चलते एक नदी आ गयी । नौकापर सभी चढ़ रहे थे । संत महोदय भी चुपचाप बैठ गये उसीपर एक कोनेमें ।

नौका बीच नदीमें पहुँची । इतनेमें बहुत भयंकर आँधी उठी । नौका अब डूबी, तब डूबी हो रही थी । हवामें बालूके कण उड़-उड़कर सभीके आँखोंमें भर गये । मल्लाह नौकाको सम्हालनेमें असमर्थ होकर चिल्ला उठा—'भाइयो ! यह नौका अभी डूबनेवाली है, अपना-अपना होश करना ।' सभीके चेहरे फीके पड़ गये । पर संत तो मस्त थे । लगे जलपात्रसे नदीका जल ले-लेकर नौकाको भरने । लोग दंग रह गये । नौका तो स्वयं डूब रही है और फिर ये पानी भर रहे हैं । किसी-ने फटकारा, किसीने गाली भी दी । पर संत तो उनकी सुनते ही न थे, पानी भरते ही रहे ।

देखते-ही-देखते आँधी हट गयी । मल्लाहने चिल्लाकर कहा—'भाई, घबराओ मत, गङ्गा मैयाकी कृपासे नौका बच गयी ।' सुनते ही सभी होशमें आ गये । अब तो संत महोदय पहलेके विपरीत नौकाका जल नदीमें फेंकने लगे । सभी हँस रहे थे—कितना पागल है यह बाबा । मल्लाहने रोषके साथ पूछा—'बाबा ! पागल हो गये हो क्या ?' बाबाने शान्त स्वरमें कहा—'भाई, पागल नहीं हूँ । भगवान्की हाँ-में-हाँ मिला रहा हूँ ।'

एक दिन स्वामीजीने सत्सङ्गियोंसे कहा—'भाई ! जब कभी जो भी परिस्थिति—अनुकूल अथवा प्रतिकूल—आ जाय, भगवान्को धन्यवाद दो और हृदयसे कहो—'प्रभो ! मैं तो यही चाहता था ।' कितना सुन्दर भाव है ! हमने अपनाया इस भावको कि काम बना ।

एक संत उपदेश कर रहे थे । एक सङ्गी भाईने पूछा—'महाराजजी ! मैं भगवान्के साथ कैसा सम्बन्ध

जोड़ूँ।' संतने कहा—'उनका फुटबाल (गेंद) बन जा। जिधरकी ओर ठुकरायें, उधर ही लुढ़क जा।'

बस, भगवान्‌की इच्छामें ही अपनी इच्छाको लीन कर देना—सच्ची प्रार्थना है। इसी प्रार्थनाके द्वारा आप ऊपर उठ सकेंगे। खर्च तो एक कौड़ीका भी नहीं है। प्रभुकी प्राप्तिका यही सर्वोत्तम उपाय है—'मामेकं शरणं व्रज।'

अपने स्वार्थके लिये प्रार्थना करना उचित नहीं। हाँ, दूसरोंके कल्याणके लिये प्रार्थना करना उत्तम है। इससे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

एकान्तमें बैठकर मनको शिथिल कर दीजिये। नेत्र मूँद लीजिये। विरोधी विचारोंको हटा दीजिये। प्रार्थना-पर अपने चित्तको बार-बार लगाइये। ज्यों-ज्यों आपका सम्बन्ध परमात्माके साथ अधिक-अधिक जुटता जायगा, त्यों-त्यों आपके रोम-रोममें पवित्रताका संचार होगा। फिर प्रार्थना प्रारम्भ कीजिये। विश्वास-सिञ्चित प्रार्थना-से तुरंत ही लाभ होगा। प्रार्थना सुन्दर, श्रद्धा और विश्वासयुक्त होनी चाहिये। प्रभुमें प्रीति-प्रतीति होनी चाहिये और एक उनके सिवा प्रार्थीकी कोई दूसरी गति नहीं होनी चाहिये। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने कितना अच्छा कहा है—

सीतापति रघुनाथजी तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काग जहाजको सूझत ठौर न और॥

बालीको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने मारा और फटकारा भी; पर ज्यों ही उसने कहा—

प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि।

—भगवान्‌के हृदयमें करुणाका सागर उमड़ पड़ा!

चीरहरणके अवसरपर सती द्रौपदीकी प्रार्थनामें प्रीति, प्रतीति और गति तीनों थीं। देखिये—

हाथ उठाय अनाथ नाथ सौं 'पाहि पाहि, प्रभु पाहि' पुकारी।
तुलसी निरखि प्रतीति प्रीति गति आरत पाल कृपाल मुरारी।
बसन बेष राखी बिसेष लखि बिरदावलि मूरति नर-नारी॥

इस प्रीति-प्रतीति-गतिसे युक्त प्रार्थनासे अच्युतका भी आसन हिल गया। लेना पड़ा ग्यारहवाँ अवतार—वस्त्रावतार।

त्राहि तीनि कहि द्रौपदी, चपरि उठाई हाथ।
तुलसी कियो इगारहौं बसन बेष जदुनाथ॥

यह है अलौकिक चमत्कार सच्ची प्रार्थनाका।

प्रार्थना रोगियोंके लिये धन्वन्तरि है, असहायोंका सहारा, निर्बलोंका बल और अनाथोंका आश्रयदाता माता-पिता है। संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो प्रार्थनासे प्राप्त न हो सके। पर सावधान! प्रभुसे प्रार्थना करके फिर असार संसारकी ही माँग कर बैठना बहुत ही अनुचित है। उनसे तो एक ही माँग होनी चाहिये—वह यह कि उनकी कृपा हमारे ऊपर सदा बनी रहे, उनके चरणाम्बुजोंकी दासता मिलती रहे, हमारी सारी शक्तियाँ उन्हींकी दी हुई होनेके कारणसे उन्हींकी सेवामें सदा समर्पित रहें।

येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

उनकी वस्तु उन्हें दे दो

जो कुछ भी है मिला तुम्हें उस सबके स्वामी हैं भगवान।
दीनवेशमें माँग रहे हैं वही, वस्तु अपनीका दान॥
प्राणिमात्रमें दीन रूपमें दीनबन्धुके कर दर्शन।
नम्रभावसे अर्पण कर दो उनको उनके तन-मन-धन॥

मधुर

(१)

किसी उच्चस्तरके साधकको भगवान्‌की झाँकी हुई। इसी आदर्शसे—एक गोपीने एक दिन भगवान्‌की मधुर झाँकी देखी। बस, तभीसे उसकी विचित्र स्थिति हो गयी। वह सब कुछ भूल गयी, कभी भगवान् श्यामसुन्दरको वह अपने पास देखती, कभी वियोगका अनुभव करके पूर्वकी मधुर स्मृति करती, कभी नित्य-मिलनका अनुभव करती और कभी सर्वथा उनमें प्रवेश कर जाती। उस गोपीका अनुभव है—

पता नहीं कुछ रात-दिवस का,
पता नहीं कब संध्या-भोर।
जाग्रत-स्वप्न दिखायी देता
श्याम सदा मेरा चितचोर॥
भूल गयी मैं नाम-धाम निज,
भूल गयी सुधि, हूँ मैं कौन।
नयन नचाकर, प्राण हरण कर,
खड़ा हँस रहा धरकर मौन॥

मुझे न रात-दिनका कुछ पता है, न सुबह-शामका। जाग्रत्‌में तथा स्वप्नमें मुझे अपना वह चित्तचोर श्यामसुन्दर ही सदा दिखायी देता है। मैं अपना नाम भूल गयी, घर भूल गयी; मैं कौन हूँ, इसकी याद भी भूल गयी। अहा! देखो न! वह आँखें नचा-नचाकर मेरे प्राण हरण कर रहा है और मौन धारणकर खड़ा हँस रहा है।

कैसी मधुर मूर्ति, वह
कैसा था विचित्र मनहारी रूप।
आँखें झर रहीं, झरतीं नित,
करतीं स्मृति सौन्दर्य अनूप॥
मर्म बेध कर धर्म मिटाया,
किया चूर सारा अभिमान।
लोक लाज, कुल-कान मिटी सब,
रहा न कुछ निज-परका भान॥
हा! कैसा विधु बदन सुधामय,
विचर रहा कालिन्दी कूल।
हर सर्वस्व बाँध सब तोड़े,
मिटे सभी मर्यादा कूल॥

(इतनेमें ही उसने देखा, श्यामसुन्दर तो नहीं हैं, तब पूर्वदर्शनकी स्मृति करके वह कहने लगी—) अहा! कैसी मधुर छवि थी, वह कैसा विचित्र मनहरणकारी रूप था। उस अनुपम सौन्दर्यकी मधुर स्मृति करती हुई फिर उसे देखनेके लिये मेरी ये आँखें झर रही हैं और नित्य-निरन्तर इनसे प्रेमके आँसू झर रहे हैं। अहा, वह कैसी वस्तु है—जिसने मेरे मर्मको बेध डाला। जो हृदय सदा संसारके पदार्थोंमें लगा था, वह वहाँसे सर्वथा कट गया और उसमें निरन्तर वियोग-व्यथाकी पैनीधार कटारी बिंध गयी। मेरी सारी हृदयग्रन्थि सर्वथा कट गयी। जिसके दीखते ही सारे लोकधर्म अपने-आप ही मिट गये, सब प्रकारके अभिमान (वर्णाभिमान, विद्याभिमान, धनाभिमान, रूपाभिमान, देहाभिमान आदि) चूर-चूर हो गये, लोककी लाज लुट गयी, कुलमर्यादा मिट गयी, अपने-परायेका कुछ भान ही नहीं रहा—न कहीं मेरापन रहा, न परायापन, हा! हा! वह कैसा सुधामय चन्द्रवदन कालिन्दी-तटपर विचर रहा था, जिसने मेरा सर्वस्व हरण कर लिया। बलात्कारसे सर्वस्वार्पण करा लिया, सारे बन्धन छिन्न-भिन्न हो गये और मर्यादाके सारे किनारे अपार स्नेह-सागरमें विलीन हो गये।

अब फिर उसे मनसे नित्य संयोगका अनुभव होने लगा—तब बोली—

मनसा मिल रहते मेरे सब
अंग नित्य प्रियतमके अंग।
नहीं छूटता कभी, सभी विधि
रहता सदा श्यामका संग॥

रसमय हुई नित्य रस पाकर
रसिक-रसार्णवका सब ओर।
बही रस सुधा सरिता धारा
प्लावित कर सब, रहा न छोर॥

अहा ! वे तो कभी मुझसे अलग होते ही नहीं । मनके दिव्य धाममें मेरे सारे अङ्ग प्रियतमके अङ्गसे नित्य ही मिले रहते हैं । सब प्रकार सदा श्रीश्यामसुन्दरका सङ्ग बना रहता है, वह कभी छूटता ही नहीं । मैं तो उन परम रस ('रसो वै सः'), रसिक, रस-समुद्रका नित्य दिव्य रस प्राप्त करके रसमयी ही बन गयी । अब तो सबको—समस्त जगत्‌को—सम्पूर्ण लोक-परलोकको प्लावित करती हुई सब ओर रसामृत-नदीकी ही धारा बह चली है । कहीं उसका अन्त रहा ही नहीं ।

अन्तमें अपनेको श्यामसुन्दरके साथ एकमेक पाकर वह कहती है—

श्याम रहे या रही मैं—कहीं,
कुछ भी नहीं रहा संधान।
श्याम बने मैं, श्याम बनी मैं,
एकमेक हो रहे महान॥

अब श्यामसुन्दर हैं या मैं कहीं हूँ, इसका कुछ भी पता नहीं रहा; क्योंकि श्यामसुन्दर 'मैं' बन गये और मैं श्यामसुन्दर बन गयी । महान् एकमेकता हो गयी ।

यही रसराज्यमें पूर्ण प्रवेश है—'विशते तदनन्तरम्।'

(२)

एक गोपीकी धारणा

नहीं चाहती मनोनाश मैं,
नहीं चाहती चित्तनिरोध।
श्याम-सिन्धुमें सुरसरिवत् नित
वृत्ति प्रवाहित हो अविरोध॥
जैसे सुर-सरिता बहती नित
करती सब विघ्नोंका नाश।
वैसे ही सब भूल, दौड़ता
रहे चित्त प्रियतमके पास॥

वेदान्ती कहते हैं 'मनोनाश' हुए बिना ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता; योगका तो सिद्धान्त ही है—'चित्तका निरोध' । पर गोपी कहती है—मैं न तो मनका नाश चाहती हूँ न चित्तका निरोध ही । मेरा मन सदा जीवित रहे और चित्तकी वृत्तियाँ निरुद्ध भी न हों, वे बिना बाधा सुरसरि (गङ्गा) की भाँति प्रियतम श्यामसुन्दर-समुद्रकी ओर प्रवाहित होती रहें । बीचमें कोई बाधा-विघ्न आयें तो जैसे गङ्गाकी प्रखर धारा पत्थर, चट्टान, पेड़ आदि समस्त विघ्नोंको चूर-मूर करती हुई सदा समुद्रकी ओर बहती रहती है, वैसे ही समस्त जगत्‌को भूलकर, सब विघ्नोंका नाश करके मेरा चित्त सदा प्रियतमकी ओर दौड़ता रहे ।

'मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।'
(भाग०)

नहीं चाहती इन्द्रिय संयम,
बनी रहें वे सक्रिय सत्य।
शब्द स्पर्श रस रूप गन्ध
प्रियतमके सेवन-रत हों नित्य॥

लोग कहते हैं—इन्द्रियोंको संयमित करो, उन्हें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धके सेवनमें मत लगने दो—पर मैं नहीं चाहती कि मेरी इन्द्रियाँ संयमित रहें । मैं तो चाहती हूँ कि वे सचमुच ही सक्रिय रहें और वे प्रियतमके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धके सेवनमें सदा-सर्वदा संलग्न होकर रहें—

नहीं चाहती हटे कभी
मेरे मनसे किंचित् आसक्ति।
बढ़ती रहे सदा प्रियतममें
दिन-प्रतिदिन अतिशय अनुरक्ति॥

मुझे उपदेश दिया जाता है कि आसक्तिको हटाओ; पर मैं नहीं चाहती कि मेरे मनसे आसक्ति जरा भी हटे । मैं तो चाहती हूँ कि प्रियतमके प्रति मेरी आत्यन्तिक आसक्ति सदा दिनोंदिन बढ़ती ही रहे ।

नहीं चाहती मिटे कामना,
कभी वासना का हो अन्त।
तीव्र कामना नित्य वासना
प्रियकी बढ़ती रहे अनन्त॥

उस दिन एकने मुझसे कहा—कामना-वासनाका अन्त होना आवश्यक है; परंतु मैं तो नहीं चाहती कि मेरी कामना-वासनाका कभी अन्त हो। प्रियतमके लिये मेरी तीव्र कामना हो और वासना अनन्तरूपमें सदा बढ़ती ही रहे।

नहीं चाहती मैं जीवनभर
ममताका हो अन्त कभी।
सबसे हटकर रहें सदा
प्रियतममें पूर्ण अनन्य सभी॥

किसीने बतलाया ममता न रखो; पर मैं तो नहीं चाहती, जीवनभरमें कभी भी ममताका नाश हो। मैं तो यही चाहती हूँ कि मेरी ममता जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंसे—सबसे बिल्कुल हट जाय और सारी ममता पूर्णरूपसे तथा अनन्यभावसे केवल प्रियतममें ही हो जाय।

नहीं चाहती मिटे कभी भी
मेरा अहंकार भारी।
मैं प्रियतमकी नित्य सहचरी—
रहे सदा यह सुखकारी॥

मुझसे मेरे एक हितैषीने कहा—अहंकारका त्याग कर दो। पर मैं नहीं चाहती मेरा भारी अहंकार कभी भी मिट जाय।' 'मैं अपने प्रियतमकी नित्य सहचरी हूँ' यह परम सुखदायी अहंकार सदा अनुभवमें आता ही रहे।

नहीं चाहती कोई भी मैं
कभी समाधि, राज लय योग।
बना रहे प्रियतमसे मेरा
नित्य अनन्य मधुर संयोग॥

एक योगिराजने बतलाया—समाधियोग, राजयोग या लययोग आदि किसी योगका साधन करो; पर मैंने तो कहा—योगिराज! मैं कभी किसी भी समाधियोग, राजयोग या लययोगको नहीं चाहती। मेरा तो बस, प्रियतम श्यामसुन्दरसे सदा-सर्वदा अनन्य मधुर-मधुर संयोग बना रहे।

नहीं चाहती कभी मिटे
यह अति वैचित्र्य भरा संसार॥
प्रियतम ही दीखें सबमें,
सर्वत्र, सदा सुचि लीलाकार॥

अधिक क्या कहूँ, मैं तो यह भी नहीं चाहती कि यह अत्यन्त विचित्रताओंसे भरा हुआ संसार कभी मिटे। मैं तो चाहती हूँ—बस, समस्त संसारमें सदा सर्वत्र मुझे अपने पावन प्रियतम ही लीला करते हुए दिखलायी देते रहें। इससे बढ़कर और कौन-सा सर्वश्रेष्ठ साधनस्तर होगा!

मेरा सर्वस्व

नाथ! तू सर्वस्व मेरा।
भरा अन्तरमें सदा है एक बस आनन्द तेरा॥
हो गया सब कुछ समर्पण बिना ही आयासके अब।
रह गया कुछ भी न, छूटा त्यागका अभिमान भी सब॥
पूर्ण निर्भरता हुई है, मिला संरक्षण अनोखा।
हृदयका सूखा हलाहल, सुधा-सरवर भरा चोखा॥
हट गया अवरोध सारा, मिट गई बाधा सकल है।
हो गया निज घर हृदय तव, आ बसा तू सदल-बल है॥

मनुष्यको सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बनानेवाली दैवी सम्पदाएँ

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

[गताङ्क पृष्ठ १०५७ से आगे]

१५—निन्दा और चुगली आदिका त्याग

अपनेसे विद्या, बुद्धि, धन आदिकी ऊँची स्थितिमें रहनेवालोंकी अथवा अन्य किसीकी भी निन्दा करना तथा दूसरोंकी चुगली खाना मनुष्यका एक विकार है। ऐसा करनेसे द्वेष बढ़ता है। मन उद्वेगसे परिपूर्ण हो उठता है। शत्रुताका भाव पनपता रहता है, जो मनुष्यको अग्निकी तरह जलाता रहता है—

आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम। (ऋग्वेद ५।४५।५)

अर्थात् द्वेषका परित्याग कर देना ही उचित है। जो द्वेष करता है, उसका अपना ही अहित होता है।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा।
(अथर्ववेद ७।५२।२)

अर्थात् ऐसा कार्य करो, जिससे द्वेष नहीं, प्रेम बढ़े। निन्दा-चुगलीसे पारस्परिक विरोध बढ़ता है, अतः उन्हें मत करो।

दूसरोंकी खराबियाँ निकालने, न्यूनताओंका प्रदर्शन करने और निन्दा-चुगली करनेसे हमारा अन्तःकरण कालिमासे भर जाता है। हमें सर्वत्र बुराई-ही-बुराई दृष्टिगोचर होती है। हमारे अंदरका मानसिक वातावरण तमोगुणी रहता है और हमारे सद्गुणोंका ह्रास होने लगता है।

जिस प्रकार एक छोटेसे पत्थरसे सम्पूर्ण सागरमें कम्पन उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही दोषोंका तथा अशुभ आचरणोंका निरन्तर स्मरण करानेवाले निन्दा और चुगलीके छोटे-छोटे विकार तरङ्गकी भाँति अन्तःकरणके रग-रेशेको कम्पित कर देते हैं। जैसे पत्थरसे स्वच्छ पानी गँदला हो जाता है, वैसे ही मन कुप्रवृत्तियों, आसुरी विचारों और घृणित दुर्भावोंसे भर जाता है।

दोष-दर्शनकी दुष्प्रवृत्ति हमारे मनमें दोषवृद्धि करती है। हम जैसा देखते हैं, वैसा ही ग्रहण करते हैं। जो व्यक्ति सदा दूसरोंकी निन्दा किया करता है, वह चुपचाप अपने आपके बड़प्पनका ढोंग करता है। निन्दा तो स्वयं मनुष्यकी अपनी कमजोरीका परिचायक दोष है। यह उन पापमयी प्रवृत्तियों और आसुरी विचारोंका प्रकाशन है, जो बहुत दिनोंसे उसके अन्तःकरणमें जमे हुए थे।

अतः प्रत्येक कल्याण चाहनेवाले व्यक्तिको चाहिये कि दूसरोंके दोषोंका चिन्तन-स्मरण करना तथा किसीसे भी पर-दोष कहना छोड़ दे तथा सबके शुभ गुण देखे; कुछ कहना ही हो तो किसीके शुभगुण-आचरणका सच्चा वर्णन करे। मनमें दूसरोंके प्रति दुर्भावोंको त्याग दे। छल-वृत्ति छोड़ दे। दम्भाचरणसे सावधान रहे। हृदय, मन और वचनमें एकता रखे। अच्छा ही सोचे और वैसा ही उच्चारण करे।

बुराइयोंको द्वेषकी अपेक्षा प्रेमसे दूर करना सरल है। अतः निन्दा-चुगली करनेकी प्रवृत्ति त्याग देनी चाहिये।

१६—हेतुरहित दया

सब जीवोंपर दया कीजिये, पर उसमें अपना कोई छिपा हुआ गुप्त हेतु (लाभ उठानेकी वृत्ति) मत रखिये। दया मनुष्यका सबसे बड़ा गुण है। परमपिता परमेश्वर स्वयं दया-सिन्धु कहलाते हैं। उनकी दया सर्वत्र फैली हुई है। जीवमात्रके प्रति उनकी दयाका वर्णन करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है, हृदय ही उसका अनुभव कर सकता है। यही दैवी गुण हम ईश्वरपुत्रोंको धारण करना चाहिये।

किसी स्वार्थसे प्रेरित होनेपर दयाका देवत्व नष्ट हो जाता है। अतः उसमें कदापि अपना स्वार्थ मत रखिये, वरना वह एक व्यापारमात्र बन जायगा। जगत्-नियन्ताकी अपरिमित दया सदा हेतु-रहित है। उनका कोई हेतु छिपा हुआ नहीं है।

आप जीवनकी किसी भी स्थितिमें क्यों न हों, हेतुरहित दयाका प्रयोग कर सकते हैं तथा उससे मिलनेवाले अमृतोपम आत्मसंतोषसे लाभ उठा सकते हैं। यदि उससे लाभ उठानेकी भावना रही तो उससे आत्मसंतोष न मिल पायेगा। जिस दयामें लाभ उठानेकी वृत्ति है, वह धर्मके नामपर एक कलङ्क है। सच्ची दया हेतुरहित ही होती है।

१७—लोलुपता या आसक्तिका न होना

जीवन्मुक्त वही है, जो सर्वत्र समभाव है, जो मन-वाणी तथा शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव रखता है, जिसको संसारका कोई भी पदार्थ लुभा नहीं सकता तथा जिसके मनसे विषयोंके प्रति

लालचका अभाव हो चुका है । एवं जो सम्पूर्ण पदार्थोंसे ऊपर उठकर परमात्माके विरुद्ध स्वरूप या प्रेममें स्थित है ।

द्वेषका मूल कारण वास्तवमें आसक्ति है । मोहवश आसक्ति होती है । आसक्तिके कारण मनुष्य उचित-अनुचितकी परवा नहीं करता, अज्ञानवश विषयोंसे लिपटा रहता है । आसक्तिके कारण मनुष्य कर्तव्यपथसे च्युत होकर परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है । इसके विपरीत आसक्तिरहित व्यक्ति अपने सम्पूर्ण कार्योंमें स्वार्थहीन, राग-द्वेषरहित होता है । मान-बड़ाई, सांसारिक प्रतिष्ठा उसे अनुचित कार्योंमें नहीं खींच सकती । ऐसे व्यक्तिकी बुद्धि सर्वत्र सम रहती है । वह अपने जीवनका सद्व्यय सहज लोक-हितकारी कार्योंमें करता है ।

जीवनके नाना कर्तव्य ईश्वरीय कर्तव्य समझकर ही कीजिये । उनसे मिलनेवाले लाभमें अपनेको मत बाँधिये ।

एक विद्वान्के ये वचन स्मरण रखिये—

यदि कर्म करते समय फलसे मिलनेवाले सुखका काल्पनिक महल न खड़ा किया जाय तो असफलता होनेपर भी दुःख नहीं होता । इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने निष्काम कर्मको 'योग' कहा है । यही कर्मकी कुशलता है । ममता ही दुःखकी जननी है, निस्स्वार्थको शोक-संताप नहीं हो सकता ।

उस परिमित और संकुचित स्वार्थको त्याग दीजिये, जो सम्पूर्ण वस्तुओंको अपने लाभके लिये ही चाहता है । सच्चा स्वार्थ परमार्थ ही हो सकता है ।

संसारके मिथ्या आकर्षणमें भी मत फँसो । संसारके प्रति अधिक आसक्ति तथा लोभ तुम्हारे दुःखका कारण है । स्वयं मनुष्यका जीवन ही अस्थिर है, मरणशील है । यहाँ संयोग है तो वियोग भी है । उन्नति है तो अवनति भी है । संग्रह है तो नाश भी है । जीवन है तो मरण भी है ।

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद् भयम् ।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद् भयम् ॥

जिस प्रकार फल पककर गिरता अवश्य है, उसी प्रकार जन्मवालेका मरण निश्चित है ।

जिस प्रकार मजबूत खंभेवाला मकान भी पुराना होनेपर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जरा और मृत्युके वशमें पड़े हुए मनुष्य नष्ट हो जाते हैं ।

करोड़ो ब्रह्माण्ड नष्ट हो गये, अनेको सृष्टियाँ व्यतीत हो गयीं । सम्पूर्ण समुद्र एक दिन सूख जायँगे । फिर इस क्षणिक जीवन और संसारमें क्या आसक्ति की जाय ।

यह आयु हिलते हुए पत्तेकी नोकपर लटकती हुई जलकी बूँदके समान क्षणभङ्गुर है । उसमें तुम क्या आसक्ति करते हो ।

कोई आज मरा, तो कोई कल, कोई परसों । इस प्रकार सभी इस सीमारहित संसारसे चले जा रहे हैं । कोई भी वस्तु, कोई व्यक्ति अपने साथ नहीं ले जा सका है । फिर इन सैकड़ो वस्तुओंमें कोई क्या आसक्ति करे । इनका क्या लालच करे ?

१८—स्वभावकी कोमलता

स्वभावकी कोमलता देवताओंका गुण है, कठोरता और शुष्कता राक्षसोंकी सम्पत्ति है । जो देवत्वका विकास करनेके अभिलाषी हैं, उन्हें मक्खन-जैसा सरल, स्निग्ध और निष्कपट स्वभाव रखना चाहिये । अन्तस्तलको सदा प्रेमरससे कोमल रखिये । आपका सबके साथ मृदुल व्यवहार होना चाहिये ।

स्वभावकी कोमलता धारण करनेसे भगवान्की शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है । भगवान् स्वयं कोमल हैं । जो सच्चे हृदयसे प्रायश्चित्त करता है, उसे वे अनायास ही क्षमा कर देते हैं । वे सबके प्रेमी, सुहृद् और रक्षक हैं । आध्यात्मिक समृद्धियोंमें स्वभावकी कोमलता सबसे बड़ी सम्पदा है । लोग भौतिक धन और ऐश्वर्य इकट्ठा करनेके लिये रात-दिन चिन्ता करते हैं, पर आत्माके साथ जन्म-जन्मान्तरोंतक साथ रहनेवाली आत्मिक सम्पत्ति—स्वभावकी कोमलतापर ध्यान नहीं देते । जबतक स्वभावकी कोमलता धारण नहीं की जाती, तबतक सफल वकील, वैद्य, व्यापारी, अध्यापक, कर्मचारी और कारीगर नहीं बना जा सकता । कोमलता धारण करनेसे क्रोध, कटुता, पशुता और दुष्ट मनोविकार नष्ट हो जाते हैं । जहाँ मिठास होगी, वहाँ कड़वापन कैसे शेष रह सकती है ।

कोमल हृदयमें भावुकताका होना आवश्यक है । कोमल हृदयवाला उदार होता है । सम्पूर्ण मानव-जगत् उसका परिवार होता है । वह दूसरोंका दुःख देखकर दुखी और सुख देखकर सुखी होता है । उसके मनमें, व्यवहारमें, वाणीमें तथा दैनिक कर्ममें मृदुलता छलकती रहती है । वह प्रत्येक व्यक्तिसे प्रीतिपूर्ण मीठी वाणीमें बातचीत करता है, अपने व्यवहारमें कहीं भी कठोरता नहीं आने देता ।

किंतु उस अति कोमलतासे सर्वदा बचना चाहिये, जो अकर्मण्यता तथा निराशाजनक दीनतामें परिणत हो जाती है; वह एक कमजोरी है । अतः मध्यका मार्ग ही अपनाना

चाहिये। कोमलता मनुष्यकी दीनता और कठोरताके बीचकी स्थितिका नाम है। इस दैवीगुणके इच्छुकको यह ध्यान रखना चाहिये कि न वह दीन-हीन ही बन जाय और न वह राक्षसी कठोरता ही धारण कर ले।

हम देखते हैं कि दैनिक व्यवहारमें अनेक व्यक्ति विशेषतः अफसर लोग कर्णकटु एवं कर्कश भाषाका प्रयोग करते हैं। मारपीट कर बैठते हैं। बोलते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो सिरपर डंडे मार रहे हों। उनके मुखसे भली बात भी कठोर और अरुचिकर प्रतीत होती है। उनके स्वरमात्रसे असुरत्व प्रकट होता है। यजुर्वेदमें कहा गया है—

मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

(यजु० ३६। १८)

हमें सब प्राणियोंको मित्रताकी दृष्टिसे देखना चाहिये। किसी प्राणीसे नहीं, केवल उनके दुष्कर्मोंसे शत्रुता रखो।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।

(अथर्व० १। ३४। ३)

अर्थात् आते और जाते मधुरता बरसाओ। स्वभावकी कोमलता धारण करो। जहाँ जाओ, वहाँ प्रेम बिखेरो। जहाँसे आओ, मधुर स्मृति छोड़कर आओ।

यदि हम संसारमें अपने पारस्परिक मेल और रिश्ते कायम रखना चाहते हैं, अनावश्यक भय, अपमान, निन्दा और दुःखमय स्थितिसे बचना चाहते हैं, तो अवश्य ही हमें स्वभावकी कोमलता-जैसे दैवी गुणकी सिद्धि करनी चाहिये।

स्वभावकी कोमलता हमारी आत्माका, ईश्वरत्वका अंश है। उसे अवश्य धारण करना चाहिये। हमारे हृदयकी प्रत्येक भावना, हमारे शरीरका रोम-रोम कोमलताके भावसे भरा हुआ होना चाहिये। दैवी सम्पदा धारण करनेके लिये हमें प्यारसे मिश्रित वाणीका प्रयोग और तदनुकूल ही व्यवहार करना चाहिये।

१९—लोक और शास्त्रके विरुद्ध आचरणमें लज्जा

मनुष्यकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये हमारे शास्त्रोंमें व्यवहारके अनेक नियमोंका विधान है। समाजकी सुख-शान्तिके उद्देश्यसे प्रत्येक वर्णके लिये सुनिश्चित कर्मका विधान है। अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंकी भलाईका विचार करके इनका निर्णय किया गया है। अधिक सुख-शान्ति और उन्नतिके लिये हमें शास्त्रोंमें वर्णित धर्म-कर्मों और नीतिका आचरण करना चाहिये। शास्त्रविरुद्ध आचरण-व्यवहार करनेमें बड़ी लज्जा होनी चाहिये तथा शास्त्रोक्त वैध कर्म—सेवा, भक्ति, परिश्रम, सादगी, दान, स्वाश्रयता आदि शुभ कर्म लज्जा छोड़कर करने चाहिये। शुभकर्मोंमें लज्जात्याग और अशुभमें लज्जा होनी चाहिये।

सच्चे मनुष्यको चाहिये कि शास्त्रोंका गहरा अध्ययन करे और ईश्वरके प्रति, अपने पूर्व पुरुषोंके प्रति, अपने समाज और परिवारके प्रति अपने सब कर्तव्योंका पालन करता रहे। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको शास्त्रसम्मत कार्योंमें बाँधे रहे।

किसीको दुःख देनेवाली लोकविरुद्ध वाणी न बोले, किसीका अनिष्ट न करे, अकारण ही किसीके साथ द्वेष या घृणा न करे, घृणित मादक द्रव्योंका सेवन न करे; काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, अहंकार, दम्भ-दर्प, अभिमान आदिसे दूर रहे। ऐसे कार्योंमें सदा लज्जाका बोध करे।

सात्त्विक भोजन करे। यथाशक्ति यज्ञ-दान-तप और नियमका पालन करे। आत्मविद्या पढ़े और उसीके अनुसार आचरण करे। अपने व्यवहारमें सदा साधुता और मिठास रखे। परमार्थके उपकारी कार्यों (जैसे धर्मशाला बनवाना, कुँआ खुदवाना, छायादार वृक्ष लगवाना, प्याऊ चलवाना) में सहयोग प्रदान करे। गरीबोंकी, दीनोंकी, रोगियोंकी सब प्रकार सेवा करे; अपना काम अपने हाथसे करे; कुल-परिवारकी रक्षा करे और अन्तमें अपना सब कुछ प्रभुको समर्पित कर दे। शास्त्रोंके द्वारा वर्जित कार्य कदापि न करे। इसीमें हमें अधिकतम आनन्द मिल सकता है।

भारतीय शास्त्र, वेद, पुराण, उपनिषद् आदि नीति-ग्रन्थोंमें सहस्रों वर्षोंके ज्ञानका निचोड़ है। जो व्यक्ति मनमाना कार्य करता है, आत्म-नियन्त्रण नहीं रखता, अपने शास्त्रोक्त कर्तव्योंका पालन नहीं करता, वह परमगति (मुक्तिपद) और सुख (ब्रह्मानन्द) को प्राप्त नहीं होता है। इसीलिये हमें सदा कर्तव्य-अकर्तव्यका ध्यान रखना चाहिये। शास्त्रविधिद्वारा नियत किये हुए कर्म ही हमारे करनेयोग्य हैं।

२०—व्यर्थकी चेष्टाओंका अभाव

इस दिव्य गुणको धारण करनेसे हम उन व्यर्थकी चेष्टाओं-से छूट जाते हैं, जो समाजमें उचित नहीं हैं तथा हमारी शारीरिक या मानसिक शक्तियोंका क्षय करती हैं। हमें उनसे कोई लाभ नहीं होता वरं हानि होती है।

अनेक व्यक्ति बैठे-बैठे या चलते-फिरते व्यर्थकी गंदी चेष्टाएँ करते रहते हैं। और कुछ नहीं तो दूसरोंके दोष ही निकालते रहते हैं, या अपनी कमजोरियाँ दूसरोंके मत्थे मढ़ते रहते हैं। कुछ बकवाद करते रहते हैं, बेमतलबकी उक्तियाँ उच्चारण किया करते हैं, या दूसरोंको चिढ़ाया करते हैं। कुछ कुसङ्गमें समय नष्ट करते हैं। पक्षपात, चापलूसी और कपटकी कुचेष्टाओंमें फँसे रहते हैं। कुछ व्यक्ति फैशन या आडम्बरपूर्ण जीवनमें ही लगे हुए हैं। कुछ अनुचित रीतिसे धन कमानेके लिये सट्टा, फाटका, ताश, चौपड़, शतरंज आदि खेलते रहते हैं; गंदे तथा व्यर्थके साहित्यका अध्ययन करते हैं। कुछ नाना व्यसनोंमें पड़े हुए हैं। इन सब व्यर्थके कामोंमें लगे रहनेके कारण उनका अधिकांश समय आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यतामें व्यतीत हो रहा है। अपनी उन्नति और समाजकी उन्नतिके लिये हमें इन सबसे सदा बचना चाहिये।

पाश्चात्त्य शिक्षा, सभ्यता और संस्कृतिके सम्पर्क तथा अन्धानुकरणने हमारे नवयुवकोंकी अनेक कुचेष्टाएँ बढ़ायी हैं। हमारी नयी पीढ़ीकी बुद्धि प्रायः तामसी होती जा रही है। चाट, चाय, मादक वस्तु, अंडे, मांस-मदिरा आदि अनेक अभक्ष्य पदार्थोंके प्रयोगसे हमने कितनी ही अनुचित वस्तुओंको अपना लिया है। ये हर दृष्टिसे हानिकर और त्याज्य हैं। स्त्री-वर्गमें फैशन, व्यर्थकी टीपटाप, आभूषण-प्रेम, दिखौवापन, इत्र-फुलेल आदिका बड़ा जोर है। फैशनके कारण पाप-वृद्धि हो रही है। विवाहोंमें वेश्याओंके नृत्य या गंदे नाटक, गंदे मजाक, उत्तेजक फिल्मोंके प्रदर्शन, गंदे गाने और बेहूदी चेष्टाएँ चलती हैं। ये सर्वथा त्याज्य हैं। दैवीगुणोंकी वृद्धि करनेवालोंको इनसे घृणा करनी चाहिये। हमारा अधिकांश समय इन्हीं तथा इसी प्रकारकी और चेष्टाओंसे एवं विलासिताकी वस्तुओंमें व्यय हो जाता है। यही श्रम, धन और समय हम जीवनोपयोगी उच्चतर कार्योंमें व्यय कर सकते हैं।

कुविचार कुचेष्टाका मूल है। मनसे कुविचार निकालनेसे ही हम कुचेष्टाओंसे बच सकते हैं। जो अच्छे विचार या अच्छी आदतें हैं, हम उन्हींसे प्रेम करें, उन्हें ही आचरणमें उतारनेका प्रयत्न करें तो निश्चय ही दैवीगुण प्राप्त कर सकते हैं।

२१—आत्मतेजकी प्राप्ति

एक ही परमात्माको ज्ञानीलोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं। सम्पूर्ण विश्व और हम सबमें आत्माके रूपमें वही ईश्वर प्रत्यक्ष हो रहा है। हम, आप और हमारे नगर, प्रान्त, देशके मनुष्योंमें परमात्मा ही अनेक रूपोंमें प्रकट हो रहा है। संसारके सभी मनुष्य परमात्माकी ही मूर्तियाँ हैं—

पुरुष एवेदꣳसर्वम्।

(ऋग्वेद १०।९०।२)

अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व परमात्माका ही रूप है।

प्रजापतिः…बहुधा वि जायते।

(अथर्ववेद १०।८।१३)

अर्थात् इस विश्वमें परमात्मा ही अनेक रूपोंमें जन्म लेता है।

अजायमानः बहुधा वि जायते।

(यजुर्वेद ३१।१९)

अर्थात् वह अजन्मा अनेक रूपोंमें जन्म लेता है। वह निराकार परमात्मा इस सारे चराचर जगत्में साकार है। हमारे अंदरसे चमकनेवाला यह आत्मा न कभी मरता है न इसकी कभी क्षति होती है। आत्माका गुण है दीप्ति या चमक। जो मनुष्य मनुष्यत्वके गुणोंका विकास करते हैं, वे आत्माके गुणोंके विकाससे अपने आपको प्रदीप्त कर लेते हैं। उनके मुखमण्डलपर एक प्रकारकी सात्त्विक चमक या तेज छाजाता है। इसे आत्मतेज कहते हैं। दीप्तिमान् आत्माओंके सम्पर्कमें रहकर हम अपनी आत्माको आत्मतेजसे प्रदीप्त कर लेते हैं। जो मनुष्य आत्माके गुणोंको बढ़ानेका प्रयत्न करते हैं, वे अपनी आत्माको आत्मतेजसे भर लेते हैं—

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।

(अथर्ववेद)

'तू शुद्ध तेजस्वी, आनन्दमय एवं प्रकाशमान आत्मा है। शुद्धता, आनन्द और प्रकाशका यह आत्मतेज ही तेरे मुखमण्डलसे भासित होना चाहिये।'

जिस मनुष्यकी मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ अत्यन्त उन्नत और विकसित हो जाती हैं, वह चुम्बकीय शक्तिसे युक्त एक महान् आकर्षणका केन्द्र बन जाता है। उसके व्यक्तित्वसे प्रकाशमयी आत्मतरङ्गें निकलकर इधर-उधर अपना प्रभाव डाला करती तथा निर्मल प्रकाशका विस्तार करती रहती हैं।

मनुष्यो! अपने आत्मामें देवत्वकी सम्पदाओंको विकसित करो। आत्मतेजसे आभासित हो जाओ। अपने आपको शरीर नहीं, आत्मा मानो। आत्मा ही आपके व्यक्तित्वका मूल स्रोत है। इसीमें स्थित होनेसे दृढ़ता और

शक्ति आती है। आत्मशक्ति आपमें प्रचुरतासे विद्यमान है। सद्विचार सत्संकल्प और सद्व्यवहारसे आत्मतेज प्राप्त करते रहो।

२२—क्षमा

पूरी शक्तिसे सम्पन्न होने और बदला लेनेके साधन होते हुए भी दोषीको सुधारका अवसर देनेके दिव्य गुणको क्षमा कहते हैं। हमारे यहाँ कहा गया है—

देवा उन्न यथा पुनः।

(ऋग्वेद १०। १३७। १)

हे देवो, सत्पुरुषो! गिरे हुओंको फिर उठाओ।

यह कार्य क्षमा नामक देवगुणद्वारा ही पूर्ण हो सकता है। गलती सबसे होती है। यदि हम गलती करनेवालेको क्षमाकर सुधरनेका अवसर दें तो उसका बड़ा उपकार होता है। अनेक मनुष्योंका पश्चात्ताप जाग्रत् हो जाता है और वे अज्ञान और कुसंस्कारोंसे मुक्त होते देखे गये हैं।

प्रायः देखा गया है कि सजाका प्रभाव उतना नहीं पड़ता, जितना दोषीको उदारतापूर्वक क्षमा कर देनेका होता है। गलतीको स्वीकार करके आगे भूल न करनेके संकल्पसे मनुष्य उन्नतिशील बनता है। गलतीको क्षमाकर उन्नतिका अवसर देना देवत्वका सूचक है।

जब हम गलती करते हैं, तब हमें यह ज्ञान नहीं होता कि हम गलती कर रहे हैं। विवेकशून्य अवस्थामें हम पाप-कर्म कर बैठते हैं। बड़े-से-बड़ा दोषी भी अपने आपको निरपराध समझता है। मोहका पर्दा उसकी बुद्धिको भ्रमित कर देता है। ऐसे अज्ञानी और अपरिपक्व बुद्धिके व्यक्तिको सजा देना कौन-सी बुद्धिमानी है।

गलतीपर क्रोध करना सहज है, पर सुधारका अवसर देना देवत्व है। गम्भीर पुरुष प्रेम तथा सहानुभूतिसे अपना कार्य निकालते हैं। क्षमासे दोनों ही पक्षोंको लाभ होता है। आवेशमें सम्भव है आप कुछ ऐसा कार्य कर जायँ, जिससे भविष्यमें आपको दुःख उठाने पड़ें और कई व्यक्ति सदाके लिये आपके शत्रु बन जायँ। यदि सहानुभूतिपूर्वक दोषीको सुधारनेका अवसर दिया जाय तो उसका चिरस्थायी प्रभाव दूसरेपर पड़ता है और शत्रु मित्र बन जाता है।

२३—धृति अर्थात् धैर्यधारण

धृति नामक गुणमें धैर्य, संतोष, सहनशीलता और विपत्तिमें भी अधीर न होना शामिल है। ये सब गुण हमें धैर्यधारणका उपदेश देते हैं।

आप जो भी कार्य करने निकलें, जो भी उद्देश्य आपके सामने हो, किसी समय या किसी भी स्थितिमें हों, धैर्यका गुण आपकी सहायता करनेवाला है।

आपको अपनी कठिनाइयाँ अथवा प्रतिकूलताएँ पर्वतके समान दुर्भेद्य और सिंहके समान भयंकर और डरावनी प्रतीत होती हों, फिर उनमें धैर्य धारण कीजिये। सब ठीक हो जायगा।

अधीर न होइये—घबराइये नहीं। आप महान् शक्तिशाली आत्मा हैं। दैवी शक्तियोंका पुञ्ज आपमें छिपा हुआ है। आपको बकरीकी तरह मिमियाना नहीं है, बल्कि सिंहके समान दहाड़ते हुए कर्त्तव्य-मार्गपर डटे रहना है।

आपत्तिके सामने घबराइये या गिड़गिड़ाइये नहीं। यदि सच्चा प्रयत्न करनेपर भी आप सफल न हो सकें तो कोई हानि नहीं। विजयके मार्गपर चलते हुए मिलनेवाली पराजय कोई बुरी चीज नहीं है।

प्रत्येक पराजय विजयकी दिशामें कुछ आगे बढ़ जाना है। यह उच्चतर ध्येयकी पहली सीढ़ी है। हमारी प्रत्येक पराजय यह स्पष्ट करती है कि अमुक दिशामें हमारी कमजोरी है, अमुक तत्त्वमें हम पिछड़े हुए हैं, या किसी विशिष्ट उपकरणपर हम समुचित ध्यान नहीं दे रहे हैं। पराजय हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित करती है, जहाँ हमारी निर्बलता है और जहाँ हमारी मनोवृत्तियाँ अनेक ओर बिखरी हुई हैं, जहाँ विचार और क्रियामें परस्पर विरोध चल रहा है, जहाँ दुःख, क्लेश, शोक, मोह आदि विरोधी इच्छाएँ हमें चञ्चल कर एकाग्र नहीं होने देतीं।

किसी-न-किसी दिशामें प्रत्येक पराजय हमें कुछ सिखा जाती है, मिथ्या कल्पनाओंको दूरकर हमें कुछ-न-कुछ सबल बना जाती है। हमारी विशृङ्खल वृत्तियोंको एकाग्रताका रहस्य सिखाती है। अनेक महापुरुष केवल इसी कारण सफल हुए; क्योंकि उन्हें कड़वाहटको चखना पड़ा था। यदि उन्हें पराजय न मिलती तो वे महत्त्वपूर्ण विजय कदापि न कर पाते। पराजयमें भी धैर्य रखना विजयका चिह्न है।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥

'विपत्तिमें धैर्य, अभ्युदयमें क्षमा, सभामें बोलनेकी चतुरता, युद्धमें पराक्रम, यशमें रुचि और शास्त्र सुननेमें व्यसन—ये सब महात्माओंके स्वाभाविक गुण हैं।'

बीमारीमें भी धैर्य-धारणकी अतीव आवश्यकता है। घबराहटसे रक्तमें गर्मी बढ़ जाती है। यदि धैर्यपूर्वक उपचार किया जाय, रोगीको साहस बँधाया जाय, तो अनेक परेशानियोंसे बचा जा सकता है। बीमारको जितना धैर्य मिलेगा, सान्त्वना मिलेगी, आराम मिलेगा, उतना ही दवाईका असर होगा।

दैवीशक्तियोंका निवास आपमें है। अतः धैर्यपूर्वक काम कीजिये। मजबूतीसे कदम आगे बढ़ाइये।

धैर्यवान् मनुष्य इस बातपर शोक नहीं करता कि मैं असफल हो गया हूँ या दूसरोंकी नज़रोंमें गिर गया हूँ, अथवा लोग व्यर्थ ही मुझपर दोषारोपण करते हैं। वह तो सोचता है कि मैं स्वयं अनेक उच्चतम शक्तियोंसे पूर्ण हूँ, पुरुषार्थ धारण किये हुए हूँ। धैर्य ही समस्त सफलताओंका आधार है।

२४—शौच अथवा पवित्रता

स्वच्छता देवत्वका लक्षण है। जो साफ—स्वच्छ है, वह देवता है। गंदगी तो राक्षसोंके पास ही पायी जाती है।

शौचका अर्थ विस्तृत है। यह दो प्रकारका होता है—(१) बाह्य शौच अर्थात् बाहरी स्वच्छता, (२) आन्तरिक शौच अर्थात् अंदरूनी (मानसिक) पवित्रता।

आजकल लोग बाह्य (शरीर, वस्त्र, भवन इत्यादिकी) स्वच्छतापर तो बहुत जोर देते हैं। सुन्दर स्वच्छ वस्त्र पहिनते हैं, सफेदपोश रहते हैं। नाना प्रकारसे सफाईका ढोंग करते हैं। स्त्रियाँ बार-बार स्नान करती हैं। वस्त्र इत्यादि धोती हैं, स्नो-पाउडर आदि लगाती हैं। नदियोंमें देरतक स्नान करती रहती हैं। चौके-चूल्हेमें भी सफाईका प्रयोग करती हैं।

(किंतु) ये सब बाहरी सफाईमात्रके प्रयोग हैं। यदि केवल स्नानमात्रसे ही मनुष्यकी मुक्ति सम्भव होती तो जलमें बहनेवाले तमाम जीव—जैसे मछली, कछुवा, मगर इत्यादि तो जन्मसे ही मुक्त हो गये होते। किंतु ऐसा नहीं है। यदि आपने बाहरसे स्वच्छता धारण कर ली है, अच्छे वस्त्र पहिन लिये हैं, माला, कंठी, टीका आदि भी लगा लिये हैं तो यही पर्याप्त नहीं है। आन्तरिक जगत्की दुर्भावनाओं, कुविचारों, कुसंकल्पोंको दूरकर सद्विचार और सद्भावनाओंको धारण करना ही सच्ची पवित्रता है।

अपने दुर्गुणोंको, कुसंस्कारोंको, ईर्ष्या, तृष्णा, चिन्ता आदि विकारोंको, हीनता और गंदे संस्कारोंकी दासताको हटाकर निर्भयता, सत्य, अहिंसा, प्रेम, सेवाभाव आदि पवित्र और आत्मिक प्रवृत्तियोंको बढ़ाना करोड़ों प्रकारकी बाहरी सफाईकी अपेक्षा अच्छा है।

आत्माको ब्रह्मके अर्पण करना आन्तरिक शौच है। जबतक अस्थिचर्मके पुतलेमें अहंभाव रहेगा, राग-द्वेषका संघर्ष चलता रहेगा, तबतक आन्तरिक शुद्धि सम्भव नहीं।

अपनी दुर्भावनाओंको परास्त कीजिये। कुविचाररूपी भयानक और बलवान् असुर ऐसे मायावी हैं, जो नेत्रोंसे तो दिखायी नहीं देते, पर अत्यन्त गुप्तरूपसे मनके भीतरी कोनोंमें घँस बैठते हैं और ऐसे जीर्ण हो जाते हैं कि इनको परास्त करना कठिन हो जाता है।

एक विद्वान्ने सत्य ही लिखा है—'यह असुर और कोई नहीं, आपके दुर्भाव और कुविचार हैं। भीतर-ही-भीतर ये दुष्ट शरीर और मनको खा डालते हैं और अन्तमें बड़ी निर्दयतापूर्वक इहलौकिक तथा पारलौकिक 'नरककी अग्नि' में जलनेके लिये पटक देते हैं। खुदगर्जी, कंजूसी, निष्ठुरता, झल्लाहट, हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष, पर-सुख-असहिष्णुता, कायरता आदि अपवित्र दुर्भावनाएँ जब भी अपनेमें दिखायी पड़ें, तुरंत ही उनका विनाश करनेके लिये तत्पर हो जाइये।

वास्तविक शुद्धि तो एकमात्र आत्मज्ञानसे होती है। सच्चे आत्मज्ञानीके हृदयमें प्रेम, ईमानदारी, सत्यता, उदारता, दया, श्रद्धा, भक्ति और उत्साहके दिव्य भाव रहते हैं। इनको धारण करनेसे सच्ची शुचिता आती है। महाभारतमें आया है—

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

'आत्मारूपी नदी हो, संयमरूपी पुण्य तीर्थ हों, सत्यरूपी जल हो, शीलरूप तट हों और उसमें दयाकी तरङ्गें उठ रही हों, युधिष्ठिर! उसमें स्नान करो। जल अन्तरात्माकी शुद्धि नहीं कर सकता।'

२५—किसी प्राणीके प्रति द्रोह या वैरभाव न रखना

मनुष्य जब स्वार्थी बन जाता है, तब उसके आत्मभावका दायरा संकुचित हो जाता है। इसके वशीभूत होकर वह एक संकुचित दायरेकी भलाई सोचता है और उसमें अन्योंकी अपेक्षा अधिक दिलचस्पी दिखाता है। वह अपने-आपको दूसरोंसे पृथक् समझता है। यह 'तू' और 'मैं' का भाव हमें एक दूसरेसे अलग किये रहता है।

'अहं' का संकोच ही हमारी ईर्ष्याका प्रधान कारण है। जब मनुष्यके 'अहं' का विस्तार होता है, तब 'मैं अकेले' के स्थानपर 'हम सबकी उन्नति' का भाव पैदा होता है। आत्मज्ञान हमें 'मैं अकेला' के स्थानपर 'हम सब' में विश्वास करना सिखाता है। ऐसा दृष्टिकोण धारण करनेसे वैरभाव दूर हो जाता है।

वैर एक अग्नि है, जो अंदर-ही-अंदर मनुष्यको जलाती रहती है। इससे सदा सावधान रहनेका उपदेश दिया गया है।

वैरकी बुनियाद मिथ्या स्वार्थपर है। वैरी दूसरोंसे डरता है और अपने डरको छिपाये रहता है। जो निर्भय और सत्यनिष्ठ है, वह मनमें वैरकी अग्नि क्यों छिपायेगा ? वह किसीसे क्यों डरेगा ?

किसीका कभी बुरा मत कीजिये, बुरा न चाहिये तथा बुरा होते देखकर प्रसन्न न होइये। आपके चाह न करनेसे उसका बुरा नहीं हो सकता, वह तो उसके प्रारब्धसे ही होगा; पर आपका बुरा निश्चय ही हो जायगा।'

ईश्वरकी इच्छा है कि उनकी इस लीलाभूमिमें हम सब प्रेम और परस्पर सहानुभूतिपूर्वक रहें। इस समाजमें कहीं भी पशुताका या असारताका भाव न हो। प्रत्येक भागमें रहनेवाली सम्पूर्ण मानव-जातिमें परस्पर प्रेमभाव रहे। ईश्वरद्वारा बनायी हुई सब वस्तुएँ सबको बराबर मात्रामें मिलती रहें। अतः वैरभाव त्यागकर प्राणिमात्रके प्रति प्रेम और सहानुभूति दिखलाइये। सबसे मित्रतापूर्ण सरस व्यवहार कीजिये।

२६—वर्ण, जाति, कुल, विद्या, धन आदिका अभिमान न करना

बहुत-से व्यक्ति अपनेको ही सर्वगुणसम्पन्न, रूप-वर्ण-कुलमें सबसे उत्तम और सब प्रकारकी सिद्धियोंसे युक्त मानकर झूठे अहंकारमें डूबे रहते हैं। अहंकारसे अभिमान आता है। मनुष्य अपने संकुचित दायरेमें ही बंद रहता है। इस अभिमानका परित्याग कर देना चाहिये। आध्यात्मिक दृष्टिसे यह मनुष्यकी गिरावटका सूचक है।

अभिमानी व्यक्ति अपने सामने दूसरोंकी श्रेष्ठता और उत्कृष्टताको कुछ नहीं समझता। उनकी अच्छी ग्रहण करने योग्य बातें भी नहीं सुनता। दम्भ और मिथ्या गर्वके मार्गपर चलनेसे उसका पतन बड़ा ही विनाशकारी सिद्ध होता है।

रावण बड़ा विद्वान् एवं बुद्धिमान् ब्राह्मण था। उसे अपनी विद्या-बुद्धिका बड़ा गर्व था। इस अभिमानमें वह इतना लिप्त हो गया कि उसे उचित-अनुचितका विवेक ही न रहा। उसने जगज्जननी माता सीताका हरण किया और अपने वंशके विनाशका कारण बना। कंस बड़ा अभिमानी राजा था। उसका अभिमान स्वयं श्रीकृष्णने खण्डित किया था। इसी प्रकारके अनेको बड़े-बड़े अभिमानी राजाओं और शक्तिके मदमें चूर रहनेवालोंका गर्व चूर्ण हुआ है। अभिमानी विद्वानोंकी विद्वत्ता गिर गयी है।

विद्वत्ताके साथ नम्रता, शक्तिके साथ सौजन्य, धनके साथ उदारताका महत्त्व है। यदि नम्रता, सौजन्य और उदारता नामक दैवीगुण न हों तो शक्ति दुराग्रहमें परिणत हो जाती है।

अभिमान एक झूठा नशा है, जिसका मद मनुष्यको अंधा कर देता है। साधारण व्यक्ति भी अफसरीकी कुर्सीपर बैठकर पदके मदमें कुछ-का-कुछ हो जाता है। सभी वर्ग, जातियाँ, कुल, योग्यताके अनुसार अच्छे हैं। किसीको दूसरेकी अपेक्षा अभिमान नहीं करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्णद्वारा प्रतिपादित इन छब्बीस दैवी गुणोंको धारण करने और इनका उत्तरोत्तर विकास करनेसे हम सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बन सकते हैं। जिस प्रकार फूल सवेरेके प्रकाशको लेनेके लिये पंखुड़ियाँ खोल देता है, उसी प्रकार आप भी इन दैवी सम्पदाओंको अपने चरित्रमें लानेके लिये और ईश्वरके देदीप्यमान प्रकाशको भीतर आने देनेके लिये अपनी आत्माको खुला रखिये। देवत्वमें ही मनुष्यका सर्वोच्च विकास है। ऊपरके गुणोंको धारण करनेसे मनुष्य नित्य श्रेष्ठताकी ओर बढ़ेगा, श्रेष्ठ वस्तुओंको देखेगा, श्रेष्ठ चिन्तन करेगा, श्रेष्ठ विचार करेगा और श्रेष्ठ कार्य करेगा। इस प्रकार इन दैवी सम्पदाओंके विकाससे मनुष्य उच्चतम श्रेष्ठताको प्राप्त होता है।

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[गताङ्क पृष्ठ १०७१ से आगे]

अब एक बार आप सावित्रीकी दशाकी कल्पना कीजिये। घोर वन है, उसमें चारो ओर भीषण अन्धकार है, कहीं भी कुछ दिखायी नहीं देता। इधर-उधर हिंसक जन्तु सूखे पत्तोंके ढेरोंपर खेल रहे हैं, जिससे पत्तोंका खर-खर शब्द हो रहा है। बीच-बीचमें हिंसक जन्तुओंकी कई प्रकारकी विकट बोलियाँ सुनायी दे रही हैं। वृक्षके ऊपर उल्लू बोल रहे हैं। कहीं-कहीं मलिन तारोंका प्रकाश घने वृक्षोंके पत्तोंको पार करता हुआ घने अन्धकारमें किसी सामान्य वस्तुपर गिरकर अद्भुत दृश्य दिखा रहा है। इन्हीं सब भय दिखानेवाले दृश्योंके बीच मृतप्राय पतिको गोदमें लिये सावित्री बैठी है। कैसा भयानक दृश्य है!

पर सावित्रीको इन सबकी कुछ भी चिन्ता नहीं है। वास्तवमें उस समय उसकी बाहरी प्रकृति लुप्त-सी हो गयी थी, इसलिये भयभीत करनेवाले ये बाहरी दृश्य और दुःख उसके लिये नितान्त ही नगण्य थे। सावित्री उस समय केवल सत्यवान्की चिन्ता कर रही थी। उस चिन्ताके सिवा बाहरकी ओर लक्ष्य करनेका मानो उसे अवसर ही नहीं था। उस समय सावित्री वृक्षके नीचे जङ्घा फैलाकर बैठी थी और उसी जङ्घापर उसने अपने प्रिय पतिका मस्तक ले रखा था। एक घोर चिन्तामें वह मग्न थी। दृष्टि उसकी पतिके मुखकी ओर लगी हुई थी। अहा, वह देखना भी क्या अद्भुत था, कैसा उज्ज्वल था। उसकी उज्ज्वलतासे मानो उस घने अन्धकारमें भी वह वन प्रभामय हो उठा था। उसी चतुर्दशीके घोर अन्धकारमें पति-देहको गोदमें लिये हुए सावित्री एक पावन प्रकाश चारो ओर बिखेरती हुई प्रार्थना करने लगी—'हाय, मेरे देव! यह क्या किया! ऐसे स्वामीसे मुझे क्यों वञ्चित कर दिया? यह तो मेरी बहुत दिनोंकी आराधनाकी सामग्री थी। अकालमें ही हे देव! आपने इसे मुझसे छीन लिया। दासीकी इतनी आराधना, इतनी प्रार्थना क्या कुछ भी नहीं सुनी गयी! जिनके पृथक् हो जानेसे हृदय शून्य और आधी देह भी अस्थायी हो जाती है, उन्हीं मेरे स्वामीको आपने अचानक ले लिया! यदि लेना ही था तो प्रभो, मुझे भी साथ क्यों न ले लिया? स्वामीके बिना शून्य प्राण लेकर मैं इस संसारमें कैसे रहूँगी? किस पापका मुझे यह दण्ड दिया गया है? मैंने तो जन्मसे लेकर अबतक किसीको भी कष्ट नहीं पहुँचाया है। विवाहिता होकर अबतक स्वामीके मुख-दर्शनके सिवा दूसरेका ध्यानतक नहीं किया है। स्वामी ही मेरे सर्वस्व थे। इनके मुखको देखकर भी अपनेको स्वामीसे बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं समझा है। फिर मुझे यह दण्ड क्यों? ऐसे स्वामी मुझे छोड़कर चले जायँगे, यह बात मैं कैसे मान लूँ? मेरा हृदय, मेरा मन, मेरे प्राण—सभी छूट सकते हैं; पर स्वामी मुझे छोड़ जायँ, यह बात मैं मान नहीं सकती। प्रभो! मुनिवरके वाक्य सुनकर आज एक वर्षसे मैं चिन्ता करती आ रही हूँ; तो भी हे प्रभो, मुझे ऐसा विश्वास कभी नहीं हुआ था; क्योंकि जितना इस मुखकी ओर देखती हूँ, उतना ही मेरे मनमें दृढ़ विश्वास होता जाता है कि ऐसे स्वामी मुझे छोड़कर कभी नहीं जायँगे। वे जलमें, थलमें, इस लोकमें, परलोकमें—जहाँ कहीं रहेंगे, मैं भी वहीं उनके साथ रहूँगी। हे भगवन्! मेरा यह विश्वास क्या सफल होगा? मैं तो समझती हूँ, जरूर होगा। मैंने इतने व्रत किये, इतनी पूजा की, इतनी आराधना की; तब भी प्रभो! क्या स्वामीको न बचा सकूँगी?'

सावित्री इस प्रकार प्रार्थना कर रही है और सत्यवान्की ओर एक दृष्टिसे देख रही है। लगातार देखते-देखते उसके मनमें मानो एक अपूर्व शक्तिका संचार हो उठा। सती सावित्री मानो कहींसे एक अपूर्व बल पाकर अद्भुत शक्तिमती हो उठी। धीरे-धीरे मानो उसे ज्ञात होने लगा—'किसकी मृत्यु, किसका जीवन, मेरी अपूर्व शक्तिके सामने ये सब मिथ्या हैं। यह विश्वब्रह्माण्ड अति तुच्छ है, लोगोंका जीवन-मरण अति सामान्य है, पृथ्वीका सुख-दुःख सारशून्य है।' अतः जगत्की सारी शक्तियाँ आज सावित्रीसे पराजित हो चुकी हैं। चराचर उसके आज्ञाधीन हो गया है। जलमें, थलमें, आकाशमें, पातालमें—सभी जगह मानो उसके लिये मार्ग खुल गये हैं। उसे यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि स्वामीकी जिसमें इच्छा होगी, मैं उसीका अनुसरण कर सकूँगी। इसी विश्वासके साथ उसके शरीरकी ज्योति बहुत कुछ बढ़ गयी। उस समय सावित्रीका मन सत्यवान्के प्राणको अपने प्राणके साथ एक करके दृढ़ बन्धनमें बाँधनेका उपक्रम कर रहा था।

सावित्री उसी प्रकार पतिके मुखकी ओर टकटकी लगाये बैठी है। अब कुछ-कुछ उसकी आँखोंके आँसू सूख गये हैं। उसी अपूर्व विश्वासके कारण उसके मनमें एक अद्भुत आशाका आलोक प्रज्वलित हो उठा है। सत्यवान् पहलेकी तरह सावित्रीकी गोदमें अचेत पड़ा है। धीरे-धीरे उसके श्वास-प्रश्वास रुक-रुककर आने लगे हैं। सावित्री स्थिर है, धीर है, गम्भीर है और मनको बलवान् बनाये बैठी है। उसके अन्तःकरणकी चञ्चलता प्रायः शान्तभावमें परिणत हो गयी है। उसी शान्तभावसे अब वह सत्यवान्की ओर देख रही है। इसी समय धीरे-धीरे एक मृत्युकी छाया आकर उनके चारों ओर छा गयी। वह छाया बड़ी अद्भुत और मोहमयी है। मानो एक छिपे हुए इन्द्रजालने आकर धीरे-धीरे उन्हें घेर लिया हो।

सावित्रीने उस समय न कुछ देखा, न कुछ सुना और न कुछ स्पर्श ही किया; केवल एक नवीन राज्यमें मानो उसने एकाएक प्रवेश किया। उसे चारो ओर मायाजाल-ही-मायाजाल दिखायी देने लगा। सावित्रीको भास हुआ कि जैसे उस घोर अन्धकारमें, अन्धकारकी कायाके साथ कुछ किलबिलाकर नाच रहा है। सावित्री एक दृष्टिसे उसकी ओर देखने लगी।

मूर्त्ति धीरे-धीरे रूप धारण करके स्पष्ट होने लगी और क्रमशः आकृति विशिष्ट हो गयी। सावित्रीने सभय देखा कि क्या ही विकट चेहरा है! देखकर उसने मस्तक नीचा कर लिया और प्रिय पतिके मुखकी ओर देखनेमें विशेष तन्मय होने लगी। धीरे-धीरे वह विकट चेहरा छिप गया।

इसके बाद बहुत देर हो गयी। अब भी सत्यवान्का हृदय धड़क रहा है। सावित्री आशाका घर बाँधने लगी। इसी समय घोर अन्धकारमय वह अरण्य-भूमि एक दिव्य तेजसे आलोकित हो उठी। वैसा प्रकाश आपने कभी नहीं देखा होगा और ज्ञात होता है, स्वयं सावित्रीने भी इसके पहले कभी नहीं देखा होगा; परंतु अब तो उसने उसे देखनेको तुरंत ही मुँह उठाया।

किंतु यह क्या! सावित्री एक दम काँप उठी। क्या ही दिव्य अलौकिक मूर्त्ति है! उस घोर अन्धकारके पर्देपर बादलोंसे निकली हुई बिजलीके समान सावित्रीने देखा कि क्या ही सुन्दर रूप है! क्या मनोहर आकृति है! हाथमें पाशदण्ड, मस्तकपर उज्ज्वल किरीट, चरणोंमें रत्नखचित पादुका और शरीरपर अमूल्य वस्त्र धारण किये हुए साक्षात् मूर्त्तिमान् धर्मराज हैं!

सावित्री समझ गयी कि यही धर्मराज हैं—यही यमराज हैं। अब रक्षा नहीं हो सकेगी। अब तो सत्यवान्को छोड़ ही देना पड़ेगा।

सावित्रीने हाथ जोड़कर उस अलौकिक पुरुषसे पूछा—'प्रभो! आप कौन हैं? आपकी मूर्ति उज्ज्वल और देह अलौकिक है! देखनेसे लगता है कि आप कोई देवता हैं। क्या आप ही धर्मराज यम हैं?'

यमराजने स्नेहपूर्वक सावित्रीपर एक दयादृष्टि डालते हुए कहा—'हाँ सावित्री, मैं ही यम हूँ, मैं ही धर्मराज हूँ, मैं ही चराचरका लयकर्त्ता हूँ और काल आनेपर लोगोंके प्राण हरनेवाला हूँ। मुझे ही मृत्यु जानो। आज मुझे ही तुम्हारे पतिके प्राणोंका हरण करना होगा; क्योंकि इसका काल आ गया है! अब तुम इसको छोड़ दो। मैं इसे स्पर्श करूँगा।'

सावित्रीने धीरे-धीरे सत्यवान्की देह नीचे रख दी और हाथ जोड़कर वह उठ खड़ी हुई। फिर धर्मराजने सत्यवान्की देहको स्पर्शकर उसके अङ्गुष्ठ बराबर प्राणपुरुषको बाहर निकाल लिया!

सावित्रीने कहा—'प्रभो, सुना है कि आपके दूत ही लोगोंके प्राण हरण करनेको आया करते हैं; पर आज आपको स्वयं उपस्थित देख रही हूँ। इसका क्या कारण है?'

यमराजने सावित्रीके मुखकी ओर देखा। क्या ही अपूर्व बालिका है! यमराजने उसके स्वामीका जीवन बाहर निकाल लिया है, तो भी बालिका स्थिर और गम्भीरभावसे यमके साथ बातचीत कर रही है। यह दृश्य यमराजको बड़ा ही अद्भुत जान पड़ा।

यमराजने उत्तर दिया—'सावित्री! तुम अपूर्व सती-साध्वी हो, इसीसे मैं तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर देता हूँ कि पापी और कुकर्मी लोगोंके ऊपर ही मेरे दूतोंका अधिकार रहता है, साधुजनोंके ऊपर नहीं रहता। सत्यवान् परम धार्मिक है और फिर तुम्हारी-जैसी पतिव्रताकी गोदमें सोया हुआ है। ऐसी दशामें मेरे दूतगण कैसे इसे स्पर्श कर सकते हैं? ऐसे धार्मिक पुरुषोंका प्राण हरण करना तो मेरा ही काम है। इसीसे मैं स्वयं आया हूँ। अब तुम घर जाओ, मैं विदा होता हूँ।'

यह कहकर यमराज सत्यवान्के उस प्राण-पुरुषको लेकर उत्तर दिशाकी ओर जाने लगे। किंतु सावित्री घर नहीं लौटी।

सावित्री उस समय सोचने लगी—'अब मैं क्या करूँ ? क्या घर लौट जाऊँ ? पर घर कहाँ है ! घर तो स्वामीके साथ ही है और स्वामी यमपुरीकी ओर चल पड़े हैं ! तब मैं यहाँ क्यों खड़ी रहूँ ? यद्यपि यमराज नियतिकी आज्ञासे स्वामीको ले जा रहे हैं, तो भी मेरे साथ जानेमें क्या हानि है ? क्या बाधा है ? स्वामीके सङ्गसे मुझे कौन अलग कर सकता है ? मैं अवश्य जाऊँगी !' सावित्री यमराजके पीछे-पीछे चल निकली।

देवताओंका पुरुषार्थ प्रबल होता ही है। यमराज हवाके साथ मिलकर निमेषमात्रमें अनेक कोसोंका मार्ग पार करने लगे। परंतु पातिव्रतका माहात्म्य भी कुछ कम नहीं होता—बड़ा ही अपूर्व होता है ! उसी शक्तिके बलसे सावित्री भी अनायास ही यमके पीछे-पीछे जाने लगी। संसारमें जो काम कभी किसीने नहीं किया—नहीं देखा, सावित्री आज अपनी पवित्रता, पातिव्रत्य और सतीत्वके प्रभावसे वही करनेको तत्पर हुई है। उसकी इस क्रियासे जगत्में एक अपूर्व आदर्श स्थापित हुआ।

यमने कुछ दूर जा पीछे फिरकर देखा कि सावित्री आ रही है। देखकर वे बड़े आश्चर्यमें पड़ गये। एक मृत्युलोककी स्त्री देवताका पीछा किये हुए आ रही है—यह बात यमराजको बिल्कुल नयी प्रतीत हुई। उन्होंने कहा—'सावित्री ! यह क्या ! तुम कहाँ आ रही हो ? मेरे साथ तुम्हारा चलना असम्भव है !'

सावित्री बोली—'भगवन् ! जहाँ मेरे स्वामी जा रहे हैं, मैं भी वहाँ जाऊँगी; क्योंकि स्वामीके साथ जाना पत्नीका धर्म है। मैं उसी धर्मका पालन कर रही हूँ।'

यमने कहा—'सावित्री ! यह होनेका नहीं है ! मनुष्योंके लिये जितनी दूर आना सम्भव है, उतनी दूर तुम आ चुकी हो; अब और आगे न आ सकोगी। अब तुम्हारी चलनेकी शक्ति क्षीण हो जायगी। इसलिये वृथा क्यों कष्ट सह रही हो ? पतिकी मृत्यु होनेपर उसकी अन्त्येष्टि और पारलौकिक क्रिया करना ही पत्नीका कर्तव्य है। अतः अब तुम घर जाकर यही काम करो।'

किंतु सावित्रीने अटलभावसे कहा—'प्रभो ! घर जानेकी बात क्यों कर रहे हो ? घर मेरा कौन है ? मेरा घर तो अब आपकेही साथ है। नारीके जीवन-मरणका एकमात्र आश्रय पति ही है। आप तो मेरे उसी आश्रयको ले जा रहे हैं ! तब मैं कहाँ जाऊँ ?'

सावित्रीकी बात सुनकर धर्मराजको बड़ा आनन्द हुआ। आनन्द होनेकी बात ही थी। किंतु नियतिकी गतिका भी तो परिवर्तन नहीं हो सकता, यह उनको दृढ़ विश्वास था। इसीलिये उन्होंने कहा—'सावित्री ! दुःखके कारण अंधी मत बनो, पागलपनको छोड़कर घर जाओ। यमराजका पीछा न कभी किसीने किया है और न कर सकता है। वृथा क्यों कष्ट सह रही हो ? स्वामीका तुम्हारे ऊपर जो ऋण था, वह चुक गया। बस, अब मेरे पीछे-पीछे मत आओ।'

सावित्री विनयपूर्वक बोली—'प्रभो ! यदि शास्त्रानुसार ही रहती हूँ, तब भी इस काल और परकालमें पत्नी कभी स्वामीके ऋणसे मुक्त नहीं होती। पत्नी चिरकालसे ही पत्नी, और स्वामी चिरकालसे ही उसका स्वामी है। और तभीसे पत्नी स्वामीकी आज्ञाका पालन और उसकी सेवा-शुश्रूषा करती आ रही है। और यही सच्चा सतीधर्म है। मैं उसी धर्मके अनुसार आज आपका पीछा किये हुए हूँ। तपस्या, पातिव्रत्य, गुरुभक्ति, व्रत, देवाराधना और आपके आशीर्वादसे भी क्या आज मेरी गति निर्बाध न होगी ?'

सावित्रीके मुखसे यह बात सुनकर यमराज और भी आश्चर्यान्वित हुए; क्योंकि ऐसी धर्मकथा उन्होंने रमणीके मुखसे कभी नहीं सुनी थी। इस बार उसे सुनकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। इसीलिये वे सावित्रीको वर देनेके लिये तैयार हो गये। बोले—'सावित्री ! तुम निश्चय ही अपूर्व साध्वी हो। तुम्हारी बात सुनकर मुझे परमानन्द प्राप्त हुआ है। तुम वर माँगो। सत्यवान्‌के जीवनके सिवा और जो तुम्हारी इच्छा हो, मुझसे कहो; मैं उसे पूर्ण करूँगा।'

यमराजकी बात सुनकर सावित्री बड़ी प्रसन्न हुई क्योंकि उसे स्वप्नमें भी आशा नहीं थी कि यमराज इतने सहजमेंही प्रसन्न हो जायँगे; और अब एकाएक यमराजको प्रसन्न देखकर उसके हृदयमें आशाका एक छोटा-सा दीप जल उठा। पर यमराजने पहले ही उसे सत्यवान्‌का जीवन माँगनेके लिये मना कर दिया है। यह बड़े परितापका विषय है ! हाय, क्या यमराज किसी प्रकार भी उसे यह अमूल्य रत्न भिक्षामें नहीं देंगे ? यदि नहीं, तो उसे अन्य वर माँगनेसे क्या प्रयोजन है ? सावित्री यही चिन्ता करने लगी। किंतु इसी समय उसे एक बात याद आ गयी। उसने सोचा—'माना' मुझे ऐसे वरसे कोई प्रयोजन नहीं है; किंतु मेरे सास-ससुरका तो इससे उपकार हो सकता है। मेरे ससुर दोनों आँखोंसे अंधे हैं, वे

यदि अच्छे हो जायँ तो क्या ही उत्तम बात हो। मैं यही वर क्यों न माँगूँ ?'

यों विचारकर सावित्रीने यमराजसे, अपने वृद्ध सास-ससुरकी आँखें ज्योतिवान् हो जानेकी प्रार्थना की। यमराज प्रसन्नचित्तसे सावित्रीको यह वर देकर फिर यमपुरीकी ओर चले।

परंतु थोड़ी ही दूर जाकर फिर यमराजने पीछे देखा कि सावित्री अब भी आ रही है। देखकर वे बड़े अचंभेमें पड़े और उसी अवस्थामें खड़े रहकर सोचने लगे—'यह सामान्य मानवी सावित्री यहाँतक मेरा पीछा किये हुए आ रही है, यह बड़े ही आश्चर्यका विषय है! मैंने तो ऐसा कभी नहीं देखा था, आज यह क्या हुआ ?' यमराजने फिर सावित्रीकी ओर एक बार अच्छी तरह देखा। 'यह क्या ही अपूर्व तेजोराशि-मण्डित छोटी-सी मनोहर मूर्ति है? ऐसा तेज इसने कहाँसे पाया? ऐसी शक्ति कहाँसे आयी? किसने इस बालिकाको ऐसी शक्तिशालिनी बनाया? पतिभक्तिने ही क्या? पर नियतिकी गतिका कौन परिवर्तन कर सकता है! और यह बालिका नियति भङ्ग करनेको मेरे पीछे-पीछे चली आ रही है। यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है!'

यमने फिर सावित्रीको सम्बोधन करके कहा—'सावित्री, मैं इतना स्वतन्त्ररूपसे तेज चल रहा हूँ और तुम मेरा अनुसरण किये हुए आ रही हो; इसलिये तुम साधारण स्त्री नहीं जान पड़ती। परंतु मेरा पीछा करनेसे अवश्य ही तुमको बड़ा भारी आयास प्राप्त हो रहा है और तुम बहुत ही थक गयी हो। अतः अब भी घर लौट जाओ, क्यों वृथा असम्भव-साधनका यत्न कर रही हो!'

सावित्रीको स्वामीसे दूर करना धर्मराजको भी उचित नहीं है। अतएव सावित्रीने उत्तर दिया—'प्रभो! आप धर्मराज हैं, धर्मराज होकर मुझे ऐसा आदेश न करें; क्योंकि पति ही स्त्रीका एकमात्र धर्म है। इसलिये मुझे आप इस धर्मसे च्युत न कीजिये। जहाँ पति जायँ, स्त्रीको भी वहीं जाना चाहिये। नहीं तो पत्नीका धर्म नष्ट हो जाता है। अब आप धर्मराज होकर किस प्रकार मुझे इस पथसे दूर करनेकी चेष्टा कर रहे हैं? पतिके साथ चलनेमें मुझे तनिक भी कष्ट नहीं हो रहा है। आप मेरे कष्टकी चिन्ता न करें।'

यह कहकर सावित्री फिर आगे बढ़ने लगी। यमराजने उत्कण्ठित होकर कहा—'सावित्री! तुम अपूर्व साध्वी हो, किंतु तुम नियतिकी गतिको बदलनेकी चेष्टा मत करो। इस लोक और परलोकका सम्बन्ध स्थायी नहीं होता। मनुष्य कभी मरे हुएका पीछा नहीं करते। वृथा क्यों मेरे पीछे-पीछे चली आ रही हो? मैं अभी तुम्हारी दृष्टिके सामनेसे लुप्त हो जाऊँगा। बोलो, उस समय तुम कैसी विपद्में पड़ जाओगी? एक बार सोचो तो सही! कहना मानो, अब भी घरको लौट जाओ।'

सावित्रीने पुनः कातरभावसे कहा—'धर्मराज! यह क्या आज्ञा दे रहे हैं? नासमझ यदि इस बातको कहे तो ठीक है; पर आप तो धर्मावतार हैं! आप किस प्रकार धर्मकी मर्यादा भङ्ग कर रहे हैं? धर्म यह है कि सात पाँव किसी व्यक्तिके साथ चलनेसे बन्धुता हो जाती है और वह उसे निभाता है। आप भी अब शास्त्रके मतसे मेरे साथ उसी बन्धुताके सूत्रसे बँध गये हैं। उस सूत्रको तोड़कर आप मुझे किस प्रकार छोड़ जायँगे ?'

सावित्रीकी बात सुनकर धर्मराजको भान होने लगा मानो धीरे-धीरे किसीने एक लोहकी साँकल उनके पाँवमें पहना दी है और वे उस धर्मकी जंजीरसे बँध गये हैं। अब वास्तवमें सावित्रीको किस प्रकार छोड़ जायँ? क्योंकि सावित्री न्यायानुसार ही बात कह रही है! अब उसे परास्त करनेका उपाय ही क्या है? और परास्त करना अधर्म भी है! यम स्वयं धर्मराज होकर यह अधर्म किस प्रकार करें? परंतु नहीं करनेसे काम कैसे चल सकता है? और जीव किस तरह यमपुरी पहुँच सकता है!

ऐसे ही विचारोंसे यम व्यथित हुए। किंतु फिर बहुत कुछ सोच-विचारके बाद उन्होंने कहा'—'सावित्री, तुम्हारी बातें अमृतके समान हैं; जितनी सुनी जाती है, उतनी ही सुननेकी इच्छा होती है। किंतु नियतिकी गतिका उल्लङ्घन करना मेरे लिये उचित नहीं। तुम और जो कुछ चाहो, उसके लिये प्रार्थना करो। सत्यवान्के जीवनके सिवा तुम्हें और क्या चाह है, उसे कहो। मैं तुमको और भी एक वर दूँगा।'

देवताओंका दान लेना ही चाहिये। सावित्रीने यह धारणा बनाकर और भी एक वरकी प्रार्थना की। इस बार उसने अपने ससुरका पुनः राज्य पाना माँगा।

'तुम्हारे ससुर शीघ्र ही गये हुए राज्यको पुनः पायेंगे।' यह कहकर यमराजने फिर यमपुरीका रास्ता लिया।

किंतु कैसी विडम्बना है! कुछ दूर जानेमें ही फिर बाधा पड़ी। यमराजने थोड़ी दूर जाकर पीछे देखा तो अब भी सावित्री उनके पीछे-पीछे आ रही थी। यमराज इस बार

विचलित हुए; क्योंकि वे मन-ही-मन सोचे हुए थे कि सावित्री बहुत शीघ्र थक जायगी, उसकी चलनेकी शक्ति कम हो जायगी। किंतु इस समय इसके विपरीत देखकर उन्हें अति आश्चर्य हुआ। यमराज वायुवेगके समान छिपे मार्गसे यमपुरी जा रहे हैं और सावित्री भी स्वच्छन्दरूपसे उनके पीछे-पीछे जा रही है। यह क्या बात है, इसे यमराज ठीक-ठीक न समझ सके। बोले—'सावित्री, अब फिर कहाँ आ रही हो? समझती नहीं हो! जाओ, जल्द घर लौटो। मेरे छिप जानेसे अब तुम कुछ भी नहीं देख सकोगी। पीछे लौटनेका मार्गतक ढूँढ़नेसे नहीं मिलेगा। बोलो, और क्या चाहती हो? मैं तुमको और भी एक वर देनेको तैयार हुआ हूँ। सत्यवान्के जीवनके सिवा और एक वर माँग लो।'

इस बार सावित्रीकी दृष्टि पितृ-कुलकी ओर गयी। सुशीला सावित्री अपने सुख-दुःखको तुच्छ गिनकर पहले ही ससुर-कुलकी श्रीवृद्धिके साधनमें सफल हो चुकी है और अब माता-पिताके दुःख दूर करनेका उसने वर माँगा। सावित्रीके पिता अश्वपति पुत्रहीन हैं, इसका सावित्रीको बड़ा भारी कष्ट बना रहता है। राज्य नष्ट और वंश निर्मूल हुआ चाहता है। इसीलिये सावित्रीने प्रार्थना की,—'प्रभो! यदि आप संतुष्ट हुए हैं तो इस बार यह वर दीजिये कि मेरे माता-पिता सौ पुत्रोंके अधिकारी हों और उनमेंसे एक-एकके तेजसे मानो चारों दिशाएँ आलोकित हो उठें।'

यमराज सावित्रीको यह वर देकर फिर यमपुरीकी ओर अग्रसर हुए, परंतु फिर भी बाधा पड़ी। यमराजने सभय देखा तब भी सावित्री पीछे-पीछे चली आ रही थी। देखकर उनका मुखमण्डल म्लान हो गया। वे खड़े रह गये। बोले—'सावित्री! तुमको मैंने एक वर, दो वर, तीन वर दे दिये। तब भी तुम मेरे पीछे-पीछे आ रही हो! यह क्या बात है? तुम्हें और क्या चाहिये? वृथा क्यों इतना परिश्रम कर रही हो? मैं अब अधिक नहीं ठहर सकता। इस बार यदि तुम मुझे बिदा नहीं दोगी तो मैं तुम्हें यहींपर छोड़ जाऊँगा। देखो, तब तुम कैसी विपद्में पड़ोगी! जरा सोचो तो सही।' किंतु सावित्री तनिक भी विचलित नहीं हुई। बोली—'धर्मावतार! यदि आप फिरे ही हैं तो दासीकी एक बात और सुन लीजिये। देखिये, मैं एक क्षुद्र नारी हूँ, पर नारी होनेपर भी आपकी बन्धु हूँ। जैसे सात पग एक साथ चलनेसे बन्धुता हो जाती है, वैसे ही सात बातें एक साथ कहनेसे भी बन्धुता हो जाती है। आप अब दोनो तरहसे मेरे साथ इस सम्बन्धमें बँध गये हैं। मुझे परिश्रमकी बात कहकर ऐसे सत्सङ्गसे वञ्चित न करें। शास्त्रमतसे सत्सङ्ग ही लोगोंके लिये अनमोल वस्तु है। मैं अब इसी सत्सङ्गमें रहूँगी, और हूँ। स्वामीके समान पवित्र वस्तु, आपके समान दुर्लभ सामग्री और इस रम्य स्थानके समान पुण्य प्रदेश और कहाँ है? इन सबकी समानता कौन कर सकता है? ऐसे सत्सङ्गमें रहकर मार्गका कष्ट मुझे तनिक भी अनुभव नहीं होता और न कुछ दूरी जान पड़ती है, बल्कि और भी आगे बढ़नेको उत्साह हो रहा है। मेरा मन मानो और भी दूर देशमें जानेके लिये उन्मत्त हो रहा है। इसलिये अनुग्रह करके मुझे भी आप स्वामीके साथ ही ले चलें। स्वामीके साथ रहनेसे बहुत दूर-दूरके प्रदेश भी मुझसे दूर न रहेंगे। आप मेरे साथ यही बन्धुताका कार्य करें।'

यमराज विषम भ्रममें पड़ गये। सोचने लगे, 'सावित्री यह क्या हठ कर रही है! इसे अदेय वस्तु तो कुछ भी नहीं है, पर विधाताके लेखका किस प्रकार उल्लङ्घन करूँ? ऐसा होना भी असम्भव है। और सावित्री मुझे धीरे-धीरे धर्मके बन्धनमें बाँध रही है। आज न जाने क्या घटना घटेगी! यमराज थोड़ी देरतक किंकर्तव्य-विमूढ़-से हो गये। इसके बाद बोले—'सावित्री, जो असाध्य है, उसकी चाह मत करो। बल्कि और भी एक वर माँग लो। तुम अपूर्व साध्वी हो। तुम्हारे तत्त्वज्ञानसे मैं मोहित हो गया हूँ। बोलो, सत्यवान्के जीवनको छोड़कर और क्या चाहती हो, जिसे मैं तुम्हें दूँ? अब यह वर लेकर मुझे छुट्टी दे देना।'

सावित्रीने देखा कि यमराज मुझे वरके ऊपर वर देकर केवल जानेकी सुविधा ढूँढ़ रहे हैं। ऐसे समय कोई गूढ़ वर माँगना चाहिये। यह सोचकर सती साध्वीने इस बार जैसे एक तीक्ष्ण शरका विक्षेप किया। एक अतिकूट भिक्षा देनेके लिये प्रार्थना की। सावित्रीने कहा—'देव! शास्त्र कहता है कि संतान बिना लोगोंकी गति नहीं होती और परलोकका काम भी नहीं सुधरता। मेरे ससुरके भी राज्यकी रक्षाके लिये मेरे स्वामी ही एकमात्र संतान हैं। इसलिये अबकी बार मुझे यह वर दीजिये कि मैं अपने स्वामीके सौ औरस पुत्रोंकी अधिकारिणी बनूँ, और इसीके साथ मेरे ससुरका वंश भी चिरस्थायी हो।'

यमराजने कहा—सावित्री, इस वरमें तुम्हारे माँगे

हुए सौ पुत्रोंकी व्यवस्था मैंने कर दी है। तुम्हारे ये सौ पुत्र पृथ्वीपर अपूर्व तेजस्वी और बल-वीर्य-सम्पन्न होंगे। उनका सुयश चारो ओर फैल जायगा और तुम्हारा कुल भी धन्य होगा। अब तुम मुझे छुट्टी दो, मैं जाता हूँ !'

यह कहकर यमराजने सावित्रीको दुबारा कुछ कहनेका अवसर ही नहीं दिया और बहुत ही तेज चालसे चल निकले। पर सावित्री भी उनके पीछे-पीछे चलने लगी।

(शेष अगले अङ्कमें)

सच्ची वकालत

(लेखक—श्रीकेशवदेवजी आचार्य)

आज-कल प्रायः यह देखा जाता है कि झूठा या सच्चा जो भी अभियोग वकीलोंके पास आता है, उसे स्वीकार करके वे अनेक प्रकारके झूठे तर्कोंसे उसे सच्चा सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप न्यायाधीशोंके लिये उन तर्क-वितर्कोंके जालमेंसे सत्योंको छाँट निकालना असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य हो जाता है। इस कारण अनेक बार निरपराध व्यक्तियोंको दण्ड मिल जाता है और अपराधी छूट जाते हैं। मनुजीने कहा है कि जो राजा अदण्डनीय पुरुषोंको दण्ड देता है और दण्डयोग्य पुरुषों को दण्ड नहीं देता, वह बहुत अपयशको प्राप्त होता है और नरकको जाता है *। इस पाप-कर्ममें सहायता देनेवाले वकील लोग ही हैं। सच्चा वकील वह होता है जो—

(१) सच्चा अभियोग स्वीकार करता है और झूठेको छोड़ देता है।

(२) दोनो पक्षोंमें समझौता करानेका प्रयत्न करता है।

(३) परिश्रमके अनुपातसे यथासम्भव कम फीस लेता है।

(४) अभियोगार्थीसे पहले पूरी फीस नहीं लेता। यदि पूरी फीस लेता है तो अन्ततक पूरे परिश्रमसे कार्य करता है।

(५) बिल्कुल सच्चे तर्क उपस्थित करता है, लेशमात्र भी तथ्योंकी तोड़-मरोड़ नहीं करता।

(६) यदि कोई बात समझमें न आये तो अभियोगार्थीको कह देता है और उसे यह अवसर देता है कि वह चाहे तो उसकी अपेक्षा किसी श्रेष्ठ वकीलको नियुक्त कर ले, अथवा दूसरे श्रेष्ठ वकीलसे परामर्श कर ले।

* अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥
(मनु० ८। १२८)

अमेरिकाके राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन और भारतके राष्ट्रपिता महात्मा गांधीमें ये बातें बहुत कुछ दिखलायीदेती थीं।

अब्राहम लिंकन

अब्राहम लिंकनका जन्म १८०९ ईसवीमें उत्तरी अमेरिकाकी केन्ट नामक रियासतमें हुआ था। ये बचपनसे ही सत्यप्रिय थे। जैसा मनमें होता, वैसा ही वाणीसे कहते और वैसा ही आचरण भी करते थे।

वकालतके विषयमें इनके कुछ निश्चित सिद्धान्त थे, जिनका वे पूरी सचाईसे पालन किया करते थे। वकीलोंको सम्बोधन करते हुए वे कहा करते थे—'जब भी सम्भव हो, अपने पड़ोसियोंको समझौतेके लिये बाध्य करो। उन्हें समझाओ कि किस प्रकार प्रकटमें जीतका सेहरा बाँधनेवाला वास्तवमें हारता है, खोता है, समय और धन दोनो ही नष्ट करता है। शान्ति-स्थापकके नाते वकीलके लिये यह एक अच्छा खासा व्यवसाय है।'

'मुकदमेबाजीको पनपनेका अवसर ही न दो। जो इसके लिये अवसर देता है, वह निकृष्टतम पुरुष है। सामान्यतया अपनी पूरी फीस पहलेसे मत लो; केवल उतनी ही फीस पहलेसे लो, जिससे अभियोगार्थी तुमसे बँधा रहे। यदि पहले ही सारी फीस ले ली जाती है और उसके बाद भी तुम्हारे मनमें अभियोगके प्रति वही अभिरुचि और भावना बनी रहती है मानो तुम्हें अपने अभियोगार्थीसे अभी भी कुछ प्राप्त करना शेष है, तो तुम सामान्य मनुष्यसे कुछ अधिक हो।'

अब्राहम लिंकन सदा अभियोगको सच्चा जानकर ही स्वीकार करते थे और यदि उन्हें बीचमें ही यह पता चल जाता था कि यह अभियोग मिथ्या है तो सफलता और पर्याप्त धन मिलनेकी पूरी आशा होनेपर भी वे तुरंत उसे छोड़ देते थे। एक बार कचहरीमें आते समय एक अभियोगमें

अचानक उन्हें एक ऐसा तथ्य मिला, जो उनके लिये नया था, किंतु जिसके कारण उन्हें अभियोगका विवरण देना उचित न जँचा। वे अपने स्थानपर लौट गये। न्यायालयमें अभियोग उपस्थित हुआ, परंतु अब्राहम अनुपस्थित रहे। जजने उनके पास संदेश भेजा। अब्राहमने उत्तर भेजा—'जजसे कह दो कि मैं इस अभियोगसे अपना हाथ हटा रहा हूँ।'

एक अभियोगार्थीको जिसे सफलताकी आशा बहुत अधिक थी, उसने कहा—मैं तुम्हारे अभियोगको जितवा सकता हूँ। पर यदि मैं ऐसा करता हूँ तो मैं एक ईमानदार परिवारपर संकट लानेका अपराधी बनूँगा और ऐसा करनेके लिये मैं तैयार नहीं हूँ। ऐसा करनेकी अपेक्षा मैं तुम्हारे अभियोग और तुम्हारी फीसको अस्वीकार करना ही अधिक पसंद करता हूँ। बिना कोई फीस लिये ही मैं तुम्हें एक सम्मति देना चाहता हूँ—'घर जाओ और छः सौ डालर कमानेका कोई और अधिक सच्चा रास्ता खोज निकालो।'

इस प्रकारकी सत्यनिष्ठाके निर्णय वहाँकी जनताकी भावनासे मेल नहीं खाते थे। इसी कारण लिंकनको पचीस वर्षकी आयुमें ही विक्षिप्तकी उपाधि मिली थी और पैंतीस वर्षकी आयुमें वे पूरी तरह विक्षिप्त माने जाने लगे थे। परंतु न्यायाधीशोंके मस्तिष्कपर इनकी युक्तियों और वक्तव्योंकी सचाईकी धाक बैठ जाती थी। ये प्रायः निर्दोष सताये जानेवाले व्यक्तियोंका ही पक्ष ग्रहण करते थे।

अब्राहम लिंकन बहुत साधारण फीस लेते थे। वे अपनी फीसका हिसाब कभी मुकदमेके आधारपर नहीं करते थे, अपितु अपने परिश्रमके आधारपर करते थे। एक होटलके मालिकने कुछ आवश्यक कानूनी कागज तैयार करनेके लिये इन्हें पचीस डालर दिये तो लिंकनने कहा—'तुम सोचते होगे कि मैं कोई ऊँची फीसवाला वकील हूँ। जान पड़ता है कि तुम पैसा खर्च करनेके मामलेमें बहुत उदार हो। इस कामके लिये १५ डालर काफी होगा। मैं तुम्हें १० डालरका बिल लौटाये दे रहा हूँ।'

महात्मा गांधी

महात्मा गांधी वकालत करते समय सदा सच्चा ही अभियोग लेते थे और जहाँतक बन पड़ता, दोनो पक्षोंमें समझौता करानेका प्रयत्न करते थे। पोरबंदरके एक फर्मके मालिक सेठ अब्दुल्लाका एक ४० हजार पौंडका अभियोग चल रहा था। प्रतिपक्षी थे उनके ही एक रिश्तेदार भाई सेठ तैयब। इस अभियोगमें सेठ अब्दुल्लाकी ओरसे गांधीजी दक्षिणी अफ्रिका गये। इस अभियोगके विषयमें महात्मा गांधी इस प्रकार लिखते हैं—'दादा अब्दुल्लाके मुकदमेकी तैयारी करते समय मैं तथ्यकी महिमा इतनी है, यह न जान सका था। तथ्यका अर्थ है सच्ची बात। सचाईका पलड़ा पकड़े रहनेसे कानून अपने आप हमारी सहायताको आ जाता है। मैंने तो अन्तमें यह भी देख लिया कि मेरे मुवक्किलका मुकदमा बहुत मजबूत है। कानूनको उसकी सहायता करनी ही चाहिये।

'पर मैंने देखा मुकदमा लड़नेमें दोनो पक्ष, जो एक-दूसरेके रिश्तेदार हैं और एक ही शहरके रहनेवाले हैं, बर्बाद हो जायँगे। मुकदमेके अन्तका किसीको पता नहीं। कचहरीमें तो वह चाहे जितना लंबा किया जा सकता है। उसके लंबा होनेमें दोनोमेंसे एकका भी लाभ न होगा।

'तैयब सेठसे मैंने अनुरोध किया—आपसमें झगड़ा निबटा लेनेकी सलाह दी। उन्हें अपने वकीलसे मिलनेको कहा। किसी ऐसे आदमीको पंच चुन लें, जिसपर दोनोका विश्वास हो तो मामला झट-पट निपट जाय। वकीलोंका व्यय इतना चढ़ता जा रहा था कि उसे चुकानेमें बड़े व्यापारीकी भी बछिया बैठ जाय। दोनो ऐसे जी-जानसे मुकदमा लड़ रहे थे कि एक भी निश्चिन्त होकर दूसरा कोई काम न कर सकता था। परस्परमें वैर भी बढ़ता जा रहा था। मुझे वकालतके धंधेसे घृणा हुई। वकीलके नाते दोनो पक्षोंका काम यही था कि एक दूसरेको जीतनेके लिये कानूनी नुकते ढूँढ़ निकाले। यह बात मैंने पहले-पहल इस मुकदमेमें ही जानी कि जीतनेवालेको कुल खर्चा कदापि नहीं मिल सकता। पक्षसे ली जा सकनेवाली कानूनी फीसका एक हिसाब होता है तथा मुवक्किल और वकीलके बीचका हिसाब दूसरा होता है। यह सब मुझे असत्य लगा। मुझे अपना धर्म दोनो रिश्तेदारोंमें मेल करा देना ही जान पड़ा। समझौता करा देनेके लिये मैंने जी-जानसे प्रयत्न किया। तैयब सेठ मान गये। अन्तमें पंच चुने गये। मुकदमा चला, दादा अब्दुल्ला जीत गये।

'पर इतनेसे मुझे संतोष न हुआ। तैयब सेठ ३६००० पौंडकी डिग्री और व्यय एक साथ न दे सकते थे। उन्हें एक दमड़ी कम भी न देना था, न दिवाला ही निकलवाना था। मार्ग एक ही था—दादा उन्हें पर्याप्त लंबी अवधि दे दें। दादा अब्दुल्लाने उदारता दिखलायी और खूब लंबी अवधि दे दी। मुझे पंचके चुनावमें जितना परिश्रम पड़ा, उससे अधिक यह लंबी अवधि दिलानेपर करना पड़ा। दोनो पक्षोंमें प्रसन्नता

हुई। दोनोकी प्रतिष्ठामें वृद्धि हुई। मेरे संतोषको सीमा न रही। मैंने सच्ची वकालत करना सीखा, मनुष्य-हृदयमें बैठना सीखा, मनुष्य-स्वभावका उज्ज्वल पक्ष ढूँढ निकालना सीखा। मैंने सीखा कि वकीलका कर्तव्य पक्षोंके बीचमें खुदी हुई खाईको भरना है। इस शिक्षाने मेरे मनमें ऐसी जड़ जमायी कि मेरी बीस सालकी कमाईका अधिक समय अपने दफ्तरमें बैठे सैकड़ों मुकदमोंमें समझौता करानेमें ही बीता। इसमें मैंने कुछ खोया नहीं। पैसेके घाटेमें रहा, यह भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा तो नहीं ही गँवायी।

'मैं विद्यार्थी अवस्थामें भी सुनता था कि वकालतके धंधेमें झूठ बोले बिना नहीं चल सकता। मुझे झूठ बोलकर न तो पद लेना था और न पैसा। इसलिये इन बातोंका असर मुझपर नहीं पड़ता था।

'दक्षिण अफ्रिकामें इसकी परीक्षा बहुत बार हुई थी। मैं जानता था कि प्रतिपक्षीके गवाह सिखाये हुए हैं और तनिक भी मुवक्किल या गवाहको झूठ बोलनेको उत्साहित कर दूँ तो मुवक्किलका मुकदमा डिग्री हो जायगा। पर मैंने सदा इस लोभको दूर रखा। ऐसे एक ही अवसरका मुझे स्मरण है जब कि मुवक्किलका मुकदमा जीतनेके बाद मुझे यह संदेह हुआ कि मुवक्किलने मुझे धोखा दिया है; मेरे अन्तरमें सदा यही रहता था कि यदि मुवक्किलका मुकदमा सच्चा हो तो वह जीत जाय और झूठा हो तो हार जाय। पारिश्रमिक लेनेमें मैंने हार-जीतपर पारिश्रमिककी दर कभी ठहरायी हो, इसका स्मरण मुझे नहीं है। मुवक्किल चाहे हारे या जीते, मैं तो सदा पारिश्रमिक ही माँगता था और जीत होनेपर भी उसीकी आशा रखता था। मुवक्किलसे पहले ही कह देता था—झूठा अभियोग हो तो मेरे पास मत आना। गवाहको सिखाने-पढ़ानेकी तो मुझसे आशा ही न रखना। अन्तमें मेरी साख तो ऐसी हो गयी कि झूठे मुकदमे मेरे पास आते ही न थे। ऐसे मुवक्किल भी मेरे पास थे, जो अपने सच्चे मामले तो मेरे पास लाते थे और जिनमें जरा भी खोट-खराबी होती, उन्हें दूसरे वकीलके पास ले जाते।'

× × ×

एक बहीखातेकी उलझनवाले मुकदमेमें अदालतके चुने हुए हिसाब-किताब जाननेवाले पंचको उसका हिसाबी भाग सौंपा गया था। पंचके निर्णयमें गांधीजीके मुवक्किलकी पूरी जीत थी, परंतु उसके हिसाबमें एक भूल रह गयी थी। जमा खर्चकी रकम पंचके दृष्टिकोणसे इधरकी उधर ले ली गयी थी। मुवक्किलकी ओरसे गांधीजी छोटे वकील थे। बड़े वकीलने पंचकी भूल देखी थी। पर उनका मत था कि पंचकी भूल मानना मुवक्किलका कर्तव्य नहीं है। गांधीजीने कहा कि इस मुकदमेमें जो भूल है, वह स्वीकार की जानी चाहिये।

बड़े वकीलने कहा—'ऐसा होनेपर पूरा डर है कि अदालत सारे निर्णयको रद्द कर दे और ऐसे जोखिममें मुवक्किलको कोई चतुर वकील नहीं डालेगा। मुकदमा फिरसे चलाना पड़े तो मुवक्किल कितने खर्चमें पड़ेगा। और कौन कह सकता है कि अन्तिम परिणाम क्या होगा?"

गांधीजी लिखते हैं—'मैंने कहा—मैं तो समझता हूँ मुवक्किलको और हमें दोनोको यह जोखिम तो उठानी ही चाहिये और हमारे स्वीकार न करनेपर भी अदालत भूलभरे निर्णयको भूल मालूम होनेपर बहाल रखेगी, इसीका क्या भरोसा है? और भूल सुधारनेमें मुवक्किलको हानि उठानी भी पड़े तो क्या हर्ज है?'

भूल स्वीकार करनेकी स्थितिमें बड़ा वकील बहस करनेको तैयार न हुआ और भूल स्वीकार न करनेपर गांधीजी तैयार न हुए। अन्तमें मुवक्किलने गांधीजीसे कहा—'ठीक है, तब आप ही अदालतमें पैरवी करें। भूल स्वीकार कर लें। हारना भाग्यमें होगा तो हार जायँगे। सच्चेका रक्षक तो राम है न?'

गांधीजीने मुकदमेकी पैरवी करते समय उस भूलको बतलाया। पहले तो न्यायाधीश उस पक्षके विपरीत हुआ, किंतु अन्तमें उसने उस भूलको सुधारकर पंचके निर्णयको स्वीकार कर लिया!

गांधीजीके शब्दोंमें—'मेरे हर्षकी सीमा न रही। मुवक्किल और बड़े वकील प्रसन्न हुए और वकालतके काममें सत्यकी रक्षा करते हुए कार्य सिद्ध हो सकता है, मेरी यह धारणा दृढ़ हो गयी।'

'एक अवसर तो ऐसा आया कि जब विचाराधीन मुकदमेमें मैंने देखा कि मेरे मुवक्किलने मुझे ठगा था। उसका मुकदमा झूठा था। वह कठघरेमें खड़ा काँप रहा था, मानो गिर पड़ेगा। इससे मैंने मैजिस्ट्रेटको मुवक्किलके विरुद्ध निर्णय देनेको कहा और मैं बैठ गया। प्रतिपक्षीका वकील दंग रह गया। मैजिस्ट्रेट प्रसन्न हुआ। मुवक्किलको मैंने उलाहना

दिया। उसे पता था कि मैं झूठे मुकदमे नहीं लेता। उसने यह बात स्वीकार की—'मैं मानता हूँ कि मैंने विरुद्ध निर्णय माँगा।' इससे वह अप्रसन्न नहीं हुआ। जो हो, पर मेरे बर्तावका बुरा प्रभाव मेरे धंधेपर नहीं हुआ और अदालतमें मेरा काम सरल हो गया। मैंने यह भी देखा कि मेरी इस सत्यपूजासे वकील बन्धुओंमें मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी थी और विचित्र संयोगोंके होते हुए भी उनमेंसे कितनोंकी प्रीति मैं सम्पादन कर सका था।

'वकालत करते हुए मैंने एक आदत यह भी डाल ली थी कि अपना अज्ञान मैं न मुवक्किलसे छिपाता था, न वकीलोंसे। जहाँ-जहाँ मैं समझ न पाता, वहाँ-वहाँ मुवक्किलको दूसरे वकीलके पास जानेको कहता था। वह मुझे रखे तो अधिक अनुभवी वकीलसे सलाह लेकर कार्य करनेको कहता था। इस सरल व्यवहारके कारण मुवक्किलोंका मैं असीम प्रेम और विश्वास प्राप्त कर सका था।'

सेठ रुस्तमजी चुंगीकी बहुत दीर्घ कालसे चोरी किया करते थे। एक बार वह पकड़ी गयी। अभियोग चलनेवाला था और जेल होनेकी सम्भावना थी। गांधीजीने कहा—'पर मुझे तो जिस चोरीके विषयमें वे नहीं जानते, उसे भी स्वीकार करना पड़ेगा। मैं सोचता हूँ कि जो दण्ड वे ठहरायें, उसे स्वीकार कर लेना चाहिये। बहुत करके तो वे मान जायँगे। पर कदाचित् न मानें तो जेलके लिये तैयार रहना होगा। मेरा तो मत है कि लज्जा जेल जानेमें नहीं है, अपितु चोरी करनेमें है। लज्जाका काम तो हो चुका। जेल जाना पड़े तो उसे प्रायश्चित्त समझियेगा। सच्चा प्रायश्चित्त तो अब आगे चुंगीकी चोरी न करनेकी प्रतिज्ञामें है।'

अन्तमें गांधीजीके कहनेसे चोरी स्वीकार कर ली गयी। 'रुस्तमजीपर मुकदमा नहीं चला। उनकी स्वीकार की हुई चुंगीकी चोरीके दूने रुपये लेकर मुकदमा उठा लेनेका आदेश निकल गया।'

'रुस्तमजीने अपनी चुंगी-चोरीकी कहानी लिखकर शीशेमें मँढ़वा ली और अपने दफ्तरमें टाँगकर अपने वारिसों और साथी व्यापारियोंको चेतावनी दी।'

(आत्मकथा)

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मैं परम शान्ति, परमानन्द, परम निर्भयता, परम निश्चिन्तता एवं परम पवित्रताके सुरम्य क्षेत्रमें विचरण कर रहा हूँ

बाह्य जगत् भीतरी जगत्‌का प्रतिबिम्बमात्र है—अपने जीवनके अनुभवसे आज मैं इस तथ्यको ठीकसे समझ रहा हूँ। मेरे मनमें जैसी भावनाएँ रही हैं, बाह्य जगत्‌की परिस्थितियाँ भी अपने-आप ठीक वैसी ही निर्मित होती चली गयी हैं। अबतक मैंने अपने अन्तरको असंतोष, अशान्ति, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदिसे भर रखा था; परिणामस्वरूप, ऐसे ही घृणित विचारोंको मैं निरन्तर अपनी ओर खींच-खींचकर बटोरता रहा और मेरा बाह्य जीवन भी इसी कारण भीषण दुःखकी ज्वालाओंसे सदा जलता रहा। पर भगवान्‌ने अपनी अहैतुकी कृपासे अब मुझे सँभाल लिया है और मेरा हृदय अब संतोष, शान्ति, विनम्रता, निष्कामता, उल्लास, दया, क्षमा, ज्ञान, त्याग, प्रेम आदि दैवी गुणोंसे भर रहा है एवं तदनुसार मेरा बाह्य जीवन भी अब मुझे परम आनन्द, प्रेम, शान्ति, प्रफुल्लता, सहानुभूति, सौहार्दसे भरा अति सुखमय अनुभव होने लगा है। दुर्भावनाओं, दुश्चिन्ताओंकी संकीर्ण सीमासे निकलकर अब मैं परम शान्ति, परम आनन्द, परम निर्भयता, परम निश्चिन्तता एवं परम पवित्रताके सुरम्य विस्तृत क्षेत्रमें विचरण कर रहा हूँ।

सद्यः श्रेयस्करी शरणागति

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

जगद्गुरु श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान्‌की शरणागतिसे अपने उभयलोककल्याणका सम्पादन करके अनुभूत विचार कहा है—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु ।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु ॥
(दोहावली २२)

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि 'यदि तू बुरा समाज छोड़कर श्रीरामजीका (उनकी शरण) होकर उनके नामका जप करे तो तेरी अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई परिस्थिति आज ही नहीं, अभी (इसी क्षण) सुधर जाय ।'

यहाँ, अनेक जन्मोंके साधनोंसे प्राप्त होने योग्य परम गतिकी तत्काल प्राप्तिमें तीन ही उपाय कहे गये हैं—(१) 'तजि कुसमाज' (२) 'होहि राम को' और (३) नाम जपु । इनका कुछ विवेचन आगे किया जाता है—(१) 'तजि कुसमाज'; यथा—

सुत, दार, अगारु, सखा, परिवारु बिलोकु महा कुसमाजहि रे ।
सब की ममता तजि कै, समता सजि, संत सभाँ न बिराजहि रे ॥
(कवितावली उ० ३०)

'पुत्र, स्त्री, घर, मित्र और परिवार (में आसक्ति) को महान् कुत्सित समाज देखिये; अतः इन सबकी ममता छोड़कर और समता-दृष्टि रखकर संतोंकी सभामें क्यों नहीं विराजमान होते ?'

ये सुत-दार आदि यदि श्रीरामभक्तिमें बाधक हों तो स्वरूपतः भी त्याज्य हैं; यथा—

जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ ।
सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ ॥
(रा० च० मानस अयो० १८५)

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
तेहि छाँड़िये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
(विनय-पत्रिका १७४)

अन्यथा इनसे यथोचित बर्ताव रखते हुए इनमें ममताका ही त्याग करना चाहिये, इससे राग-द्वेषसे हृदयकी शुद्धि रहती है । ममतात्यागकी व्यवस्था भी श्रीरामजीने शरणागत विभीषणसे कही है—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें ॥
(रा० च० मानस सुं० ४७)

अर्थात् जगत् श्रीरामजीका शरीर है । जैसे शरीरी जीवकी प्रेरणासे उसके हाथ-पैर आदि अङ्ग प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही जगन्मात्रके शरीरी श्रीरामजीके शरीररूप ये जननी-जनक आदि उनकी ही प्रेरणासे वात्सल्य आदि गुणोंसे मेरा पालन-पोषण करते हैं । अतएव जिन उपकारोंके प्रति इन सबमें ममता है, वे उपकार तो श्रीरामजीने ही करवाये हैं; तब इनसे ममता छूटकर श्रीरामजीमें होगी और फिर प्रीतिपूर्वक उनकी भक्ति दृढ़ होगी तथा जगत्‌के प्रति समता भी अनायास आ जायगी; क्योंकि यह बोध हो जायगा कि सारा जगत् एक श्रीरामजीका ही शरीर है और सबके द्वारा मेरे कर्मानुसार वे ही हित-अनहितके बर्ताव करवा रहे हैं । अतः न कोई मेरा हितैषी है और न शत्रु, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें मेरे कर्म ही हेतु हैं । तब एक शरीरके व्यष्टि-अङ्गोंमें परस्पर समत्वके समान सबमें समत्व रहेगा । यही जगत्‌के प्रति विवेक-दृष्टि है, तथा—

जननि-जनक, गुरु-बंधु, सुहृद-पति, सब प्रकार हितकारी ।
द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी ॥
(विनय-पत्रिका ११३)

अर्थात् जननी-जनक आदिके रूपसे आप ही मेरे सब उपकार कर रहे हैं, यह ज्ञान जगत्‌के प्रति अद्वैत-दृष्टिका है और इसके विरुद्ध ये जननी आदि मेरे स्वतन्त्र उपकारी हैं एवं शत्रु आदि स्वतन्त्र अपकारी हैं, यह अज्ञान द्वैत-दृष्टिका है; यह दृष्टि तम-कूपमें डालनेवाली है ।

इस समता-वृत्तिसे जगत्‌के प्रति उदासीन भाव करके सबसे ममता छोड़कर श्रीरामजीमें ममता दृढ़कर उनकी भक्ति करनी चाहिये । इसकी दृढ़ताके लिये उपर्युक्त प्रमाणमें 'संत सभा न बिराजहि रे' कहा गया है; तथा—

सेवत साधु द्वैत-भय भागै । श्रीरघुबीर चरन लय लागै ॥
देह जनित बिकार सब त्यागै । तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै ॥
(विनय-पत्रिका १३६ । ११)

संत-समासे यह जाना जाता है कि उक्त विवेक भगवान्‌को उपायरूपमें वरण करते हुए उनकी शरणागतिसे ही होता है; यथा—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(गीता ७ । १४)

अर्थात् मेरी यह गुणमयी दैवी माया निस्संदेह दुस्तर है; (पर) जो एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं।

इसलिये आगे श्रीगोस्वामीजी शरण होनेकी बात कहते हैं—

(२) **'होहि रामको'**—अपने शरीर एवं तत्सम्बन्धी पदार्थोंको श्रीरामजीके चरणोंमें अर्पणकर उनका हो जाना शरण होना है, यथा—

योऽहं ममास्ति यत्किंचिद्इहलोके परत्र च।
तत्सर्वं भवतोरेव चरणेषु समर्पितम् ॥

(नारद-पञ्चरात्र)

क्योंकि जीव ईश्वरका सनातन अंश है, वह मायावश ही अज्ञानसे मन आदि इन्द्रियोंको आकर्षण करता है (गीता १५ । ७)। जब विवेकसे जानकर अपने अंशीको यह आत्मसमर्पण करता है, तब भगवान् (गीता ४ । ११) के प्रतिज्ञानुसार इसका कुल भार ले लेते हैं। शरणागत विभीषणके प्रति विचार-विमर्शमें आपने अपना सनातन व्रत कहा है; यथा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

(वाल्मी० ६ । १८ । ३३)

"एक बार ही दीन होकर 'मैं आपका हूँ' इस प्रकार याचना करनेवाले सब प्राणियोंके लिये (एवं सब प्राणियोंसे) मैं अभय देता हूँ, यह मेरा व्रत है।" मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामजीने यह प्रतिज्ञा सर्वतीर्थपति समुद्रके तटपर एवं असंख्य वानर-भालूरूप पार्षदों (भक्तों) के समक्ष की है। अतः इसका बड़ा महत्त्व है। वैष्णवाचार्योंमें यह श्लोक शरणागतिका चरम मन्त्र माना गया है। अतः इसके पदोंके कुछ विशेष भाव कहे जाते हैं—

सकृत् एव—इस पदद्वयसे शरणागतिमें पुनरावृत्तिका निषेध किया गया है। ब्रह्मसूत्र (४ । १ । १) में उपासनाकी आवृत्ति बार-बार करनी कही गयी है, परंतु प्रपत्ति तो एक ही बार की जाती है, इसीलिये 'सकृत्' पदके साथ 'एव' भी लगा है। जैसे विवाह-विधिमें कन्याका पाणिग्रहण वर एक बार कर लेता है तो वह उसका आजन्म निर्वाह करता है; वैसे ही शरणागतका आजन्म निर्वाह एवं अन्तमें उसे सद्गति-दान श्रीरामजी करते हैं; वह शरणागत निश्चिन्त रहता है। वाल्मी० ४ । ५ । ११,१२,१५ में श्रीसुग्रीवजीकी शरणागतिके प्रसङ्गमें पाणिग्रहणमें शरण होनेका भाव स्पष्टरूपमें है। यही बात आगे इसी श्लोककी 'ददामि' इस वर्त्तमान कालकी क्रियासे भी सिद्ध है कि इसी जन्मकी इस एक बारकी शरणागतिमें ही उसे अभयपद (मोक्ष) भी प्राप्त हो जाता है।

प्रपन्नाय—इस पदके अनुसार दीन होनेपर हाथ जोड़ना होता ही है। अतः इसमें 'कायिकी' प्रपत्तिका भाव है और दीनतामें 'मानसी प्रपत्ति' भी है।

तवास्मि इति च याचते—'मैं आपका हूँ' इस याचनामें 'वाचिकी शरणागति' का भाव है। इस **'तवास्मि'** की पुष्टिमें अन्यत्र भी कहा गया है—

'तू मेरो' यह बिनु कहें उठिहौं न जनम भरि।

(विनय-पत्रिका २६७)

बारक कहिये कृपालु तुलसिदास मेरो।

(विनय-पत्रिका ७८)

तात्पर्य यह कि मुमुक्षु मुखसे तो कह देता है कि 'मैं आपका ही हूँ', परंतु वैसी हार्दिक वृत्ति इसकी सदा नहीं रह पाती। अतः, इस सामर्थ्यकी याचना यह स्वामीसे करता है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि—लोकमें उसे सब प्राणियोंसे अभय मिलता है और ऋणत्रयाधिकारियोंसे भय नहीं रहता, यमराज एवं ईश्वरसे भी उसे भय नहीं रहता; क्योंकि अभयपद मोक्ष-प्राप्तिका भी बोधक है—

अथ सोऽभयंगतो भवति।　　(तैत्ति० २ । ७)

इस श्रुतिमें अभय-पद मोक्षपरक है। भागवत (११ । ५ । ४१) में शरणागतको ऋणत्रयसे मुक्त भी कहा गया है। सब प्राणियोंसे अभय तो सबको ईश्वर ही कर सकता है, इस प्रकार श्रीरामजीने माधुर्यमें भी अपना ऐश्वर्य प्रकट कर दिया है कि शरणागतोंको भरोसा हो जाय; यथा—

सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः।

(बृह० ४ । ४ । २२)

अर्थात् ईश्वर श्रीरामजी सबको वशमें रखनेवाले, सबके प्रेरक और स्वामी हैं। इसमें 'सर्वभूतेभ्यः' यह पद चतुर्थी और पञ्चमी विभक्तिका है। पञ्चमीके भाव ऊपर आ गये। चतुर्थीपरक भाव यह है कि यहाँपर आये हुए विभीषण-के ही लिये यह कथन नहीं है, सब प्राणियोंके लिये है; सभी-को शरण आनेपर अभय प्राप्त होगा **'एतद्व्रतं मम'**—यहाँ 'मम' पदसे प्रभुने अपना सामर्थ्य प्रकट करते हुए अपना व्रत कहा है कि सामान्य मनुष्य भी अपने व्रत (प्रतिज्ञा)की रक्षा करता है, फिर मैं तो माधुर्य दृष्टिसे सत्यप्रतिज्ञ श्रीदशरथ-जीका पुत्र हूँ। अतः मैं सत्यप्रतिज्ञ रहकर ही शोभा पा सकता हूँ। तथा—

रामो द्विर्नाभिभाषते।

(वाल्मी० ३ । १० । १८)

अर्थात् श्रीरामजी दो बार नहीं बोलते; जो बोलते हैं, वही करते हैं।

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥

(वाल्मी० ३ । १० । १८)

अर्थात् हे सीते! मैं प्राण छोड़ सकता हूँ, लक्ष्मण-के साथ तुम्हें छोड़ सकता हूँ, परंतु विशेषकर ब्राह्मणोंके लिये की हुई प्रतिज्ञाको नहीं छोड़ सकता।

ऐश्वर्यदृष्टिसे मैं सत्यसंकल्प ईश्वर हूँ, मेरे संकल्पसे ही जगत्के उत्पत्ति, पालन और संहाररूप कार्य होते रहते हैं, तब यह मेरी प्रतिज्ञा कैसे अन्यथा हो सकती है?

यह व्रत श्रीरामजीका सनातन है, क्योंकि इस विभीषण-शरणागतिके पूर्व भी वाल्मीकि (३ । १ । २०-२१) में दण्डकवनके ऋषियोंने **'ते वयं भवता रक्ष्याः'**......'कह-कर इसी प्रतिज्ञाके आधारपर शरणागति की है, और उसीपर श्रीरामजीने सर्व-राक्षसवधकी प्रतिज्ञा की है। जयन्त-शरणागति-प्रसङ्गमें भी श्रीनारदजीने इसी प्रतिज्ञाके आधारपर जयन्तकी शरणागति करायी है; तथा—

आएँ सरन भजौं न तजौं तेहि यह जानत रिषिराउ।

(गीतावली, सुं० ४४)

इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि 'मैं आपका हूँ' यों कहकर जो श्रीरामजीके शरणागत हो जाता है, उसके लोक-परलोकका सारा भार श्रीरामजी ले लेते हैं।

(३)—'नाम जपु'—शरण होनेपर शरणागतका कालक्षेप कहते हैं कि वह श्रीराम-नामका जप किया करे। शरणागतिके छः भेद हैं। यथा—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

(नारदपञ्चरात्र)

इनमें नाम-जप प्रथम एवं प्रधान अङ्ग **'आनुकूल्यस्य संकल्पः'** का साधन है। नामजपकी प्रधानतामें रूपका ध्यान और उसके अर्थ-मननमें लीला भी रहती है। इससे मुमुक्षुके हृदयके संकल्प श्रीराम-परक ही होने लगते हैं। यथा—

रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव।
तस्यानुरूपं च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥
विचिन्तयन्ती सततं तमेव तथैव पश्यामि तथा शृणोमि॥
मनोरथः स्यादिति चिन्तयामि..................।

(वाल्मीकि० ५ । ३२ । ११-१३)

अर्थात् मैं श्रीरामजीको ही सदा अपनी बुद्धिमें सोचा करती हूँ और मुँहसे राम-राम कहा करती हूँ, इसीसे अपने विचारोंके अनुरूप यह कथा सुन रही हूँ तथा देख रही हूँ।.........मैं सदा श्रीरामका ही चिन्तन करती रहती हूँ, इससे वैसा ही देखती और सुनती हूँ। यह मेरा मनोरथ ही हो सकता है, ऐसा सोचती हूँ। यह नाम-जप करती हुई श्रीजानकीजीका लङ्कामें अनुमान है।

प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्—

उपर्युक्त 'तजि कुसमाज'में आ गया है। शेष स्वामी रक्षा करेंगे—इसका विश्वास, रक्षार्थ स्वामीसे कहना, आत्मनिक्षेप और कार्पण्य—ये नाम-जपकी प्रधानतामें स्वयं प्राप्त विवेकसे होते रहते हैं, जैसे राम-नाम जापक प्रह्लाद भक्तमें सब लक्षण स्वतः आ गये थे।

'अब हीं आजु'—आज ही नहीं, प्रत्युत इसी क्षण सुधर जायगी। यह कथन सहसा आश्चर्यजनक है। गीता (६ । ४५) में जो गति अनेक जन्मोंके साधनोंसे मिलनेवाली कही गयी है, वही गति एक क्षणमें मिल रही है। यह कैसे? इसकी व्यवस्था यों होती है कि इस मुमुक्षुके शरण होते ही इसके करोड़ों जन्मोंके संचित पापोंका तो तुरंत नाश हो जाता है। यथा—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(रा० च० मानस सुं० ४३)

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।

(मुण्डक० २ । २ । ८)

शरण होनेपर यह प्रभुका होकर उनकी सेवारूपमें ही कर्म करता है । इससे वे कर्म इसे फलप्रद होते ही नहीं । ज्ञानपूर्वक शरणागत जानकर पाप करता ही नहीं; यदि चूक (अनजान) में उससे पाप हो जाते हैं तो प्रभु उन्हें क्षमा कर देते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की । करत सुरति सय बार हिए की ॥

(रा० च० मानस बाल० २८)

शेष प्रारब्ध कर्म भी भोग देकर समाप्त हो जाता है । भोग-कालमें भगवान् इसे विवेक देकर शान्तिपूर्वक भोग करा देते हैं । इस प्रकार इसके शरण होते ही भगवान् इसका कुल भार ले लेते हैं । यही तुरंत इसकी दशाका सुधरना है । क्योंकि उसी समय इसके उक्त सुधारके विषयमें सत्यसंकल्प भगवान्का संकल्प हो जाता है । इसके कुछ उदाहरण लिखे जाते हैं—

(क) श्रीद्रौपदीजी (महा० सभा० ६८ । ४१–४५में) शरण हुईं । तुरंत भगवान्ने वस्त्र बढ़ाकर उनकी तात्कालिक रक्षा कर दी; साथ ही उनके शत्रुओंके संहारका भी संकल्प कर लिया । यथा—

त्राहि तीनि कह्यो द्रौपदी तुलसी राज समाज ।
प्रथम बढ़े पट, बिय बिकल चहत चकित निज काज ॥

(दोहावली १६९)

अर्थात् महाभारतके इस प्रसङ्गके तीन श्लोकोंमें रक्षाके लिये तीन क्रियाएँ आयी हैं । तदनुसार श्रीगोस्वामीजीने भी तीन बार 'त्राहि' की बात लिखी है । उनके प्रथम 'त्राहि' कथनपर उनके वस्त्र बढ़ गये । दूसरी बार 'त्राहि' कहनेपर भगवान् व्याकुल हो उठे कि अब क्या करूँ । जब द्रौपदीजीने तीसरी बार 'त्राहि' कहा, तब भगवान्ने चकित होकर अपने कार्य (भू-भार-हरण) का संकल्प कर लिया । भगवान् सत्य-संकल्प हैं; इससे कौरववर्ग उसी समय मृतकतुल्य हो गये । इसीसे विराट् रूप दिखाते हुए भगवान्ने कहा है—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव······
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः'

(गीता ११ । ३३-३४)

पुनः भगवान् जब पाण्डवोंकी ओरसे दूत बनकर कौरवोंके यहाँ गये थे, तब भी उन्होंने धृतराष्ट्र आदिको संदेश भेजते हुए स्पष्ट कह दिया; यथा—

ऋणमेतत्प्रवृद्धं हि हृदयान्नापसर्पति ।
यद्गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥

(महा० उद्योग० ५९ । २२)

अर्थात् द्रौपदीजीने जो दूरवासी मुझको 'हे गोविन्द ! त्राहि' इस प्रकार पुकारा है, उसका ऋण बढ़ता जाता है, मेरे हृदयसे नहीं जाता । भाव यह कि मैंने उसी समय उसके विरोधियोंके नाश करनेका संकल्प कर लिया था; जितना विलम्ब हो रहा है, उसका ऋण बढ़ता है; अवश्य मैं उससे उऋण होऊँगा । अतः मूलरूपमें सभास्थित कौरववर्गका और व्याजरूपमें उनकी सेनाओंका भी संहार कराऊँगा; क्योंकि सभामें द्रौपदीजीके प्रति अन्याय होते हुए सभामें स्थित राजाओंने उसकी रक्षा नहीं की, इससे वे पूर्ण अपराधी हैं । अतः वे मूलरूप और उनकी अङ्गभूता उनकी सेनाएँ व्याजरूपा हैं ।

इससे सिद्ध है कि शरणागतके शरण होते ही भगवान् उसके उभयलोक सम्पन्न करनेका सत्य संकल्प कर लेते हैं । द्रौपदी अपने पतियोंके साथ लोकमें सुखी हुई, परलोकमें भी सद्गतिको प्राप्त हुई—महा० स्वर्गा० देखिये ।

(ख) श्रीविभीषणजीके शरण होते ही उन्हें राज्य-तिलक कर लङ्केश्वर-पद दे दिया गया । फिर कुछ काल लीला-मर्यादाके लिये युद्ध करके वह कार्य सम्पन्न किया; फिर भी विभीषणजीके प्रकट धैर्यके लिये एक ही बाणसे रावणके मुकुट, छत्र और मन्दोदरीके ताटङ्क काटकर उसका सर्वनाश करनेका आश्वासन भी दे दिया । परलोकमें सद्गति देनेका वचन भी प्रथम ही दे दिया है—

करेहु कल्प भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं ।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं ॥

(रा० च० मानस उ० ११६)

(ग) श्रीसुग्रीवजीके भी शरण होते ही तुरंत उनके शत्रु वालीको एक ही बाणसे मार डालनेका दृढ़ संकल्प कर लिया । फिर गाली सहकर भी उस कार्यको उसी रीतिसे पूरा किया, सुग्रीवजीका लोकसुख सम्पन्न किया । वाल्मीकि० (७ । ११०) में उनके परलोक-सुख-दानकी बात भी देखिये ।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि शरण होनेपर भगवान् शरणागतके लोक-परलोक-सुधारका दृढ़ संकल्प तुरत कर लेते हैं । तथा—

'बिगरी जन्म अनेक की, सुधरत पल लगै न आधु ।
'पाहि कृपानिधि !' प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु ॥'
(विनय-पत्रिका १९३)

प्रश्न—द्रौपदी आदिके समक्ष भगवान् थे, इससे शरण होकर उन्होंने लाभ उठाये; आज दिन कैसे लाभ हो सकता है ?

उत्तर—आज दिन भी भगवान् अपनी पूर्ण शक्तिके साथ अर्चारूपमें वर्तमान हैं । शरणागतको उनकी शक्ति उनके नाम एवं मन्त्रद्वारा प्राप्त होती है और मन्त्रार्थद्वारा उनका आश्वासन भी प्राप्त होता है—जैसे चोरी खोलनेकी विद्यामें ख्यात ज्योतिषीका नाम लेनेपर चोरी करते हुए चोर भयसे माल छोड़कर भाग जाते हैं । वहाँ ज्योतिषीकी विद्याशक्ति उसके नामके द्वारा जाकर चोरोंको भगाती है । वैसे ही भगवान्के शरण-रक्षण आदि गुण उनके नाम एवं मन्त्रद्वारा जापकके हृदयमें प्राप्त होकर भगवान्का ही कार्य करते हैं । अतः मुमुक्षुको दृढ़ विश्वासपूर्वक शरण होकर, भगवान्पर निर्भर रहकर अपने लोक-परलोकका कल्याण सम्पादन करना चाहिये ।

भोग और भगवान्

(२)

[गताङ्क पृष्ठ १०४१ से आगे]

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

श्रीमद्भागवतके अनुसार भोगेच्छा भगवत्प्राप्तिमें प्रबल प्रतिबन्धक है; नारदजीने श्रीमत्कृष्णद्वैपायनको अपना पूर्वचरित्र सुनाते हुए कहा था कि—'पूर्वजन्ममें मैं दासीपुत्र था । जब मेरी माताका देहान्त हो गया, तब ऋषियोंके द्वारा दिये हुए ज्ञानके अनुसार ही मैं साधनामें जुट गया और एक दिन एक घोर अरण्यमें प्रविष्ट हुआ । वहाँ एक पीपल वृक्षके नीचे बैठकर मैं भगवान्के चरणोंका ध्यान करने लगा । ध्यान करते-करते ऐसी तल्लीनता बढ़ी कि हृदय प्रेमसे भर आया, नेत्रोंमें आँसू आ गये, शरीर पुलकित हो उठा, मन संसारसे अत्यन्त निवृत्त-सा हो गया और मैं आनन्दके प्रवाहमें लीन हो गया । इसी समय हृदयमें धीरे-धीरे मनको अत्यन्त प्रिय लगनेवाले, समस्त शोकोंके अपनोदन करनेवाले भगवान् हृदयमें आ गये । उस समय मुझे और कुछ भी नहीं दीखा । किंतु यह दशा क्षणिक थी । दूसरे ही क्षण वह परमप्रिय रूप हृदयसे तिरोहित हो गया । मैं अत्यन्त विकल हो उठा । उस रूपके दर्शनके लिये पुनः समाहित होकर बैठा, किंतु वहाँ कुछ नहीं दीखा । उसी समय सहसा आकाशवाणी हुई कि 'मैं कुयोगियोंके लिये दुर्दर्श हूँ । जिनका मन भोगेच्छासे सर्वदा शून्य नहीं हुआ—जिनके मल-आवरण दूर नहीं हुए, मेरा दर्शन उन्हें दुर्लभ ही समझो । यह एक बार जो तुम्हें मैंने अपना रूप दिखलाया, वह इसलिये कि तुम मेरी ओर आकृष्ट हो सको । मेरी प्राप्तिकी इच्छावाला साधु पुरुष समस्त कामनाओंको धीरे-धीरे छोड़ देता है—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।
सकृद् यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ !
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान् ॥
(श्रीमद्भागवत १ । ६ । २२-२३)

संतोंकी यह हार्दिक अनुभूति है कि यदि दसो इन्द्रियोंका संयम न किया जाय तो सारे साधन निष्फल एवं व्यर्थ हो जाते हैं और शार्ङ्गपाणि भगवान् नहीं मिलते, हृदयमें कामनाओं—भोगेच्छाओंके रहते हुए प्रभुकी प्राप्ति नहीं होती—

आठइँ आठ प्रकृतिपर निर्बिकार श्रीराम ।
केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय बसहिं बहु काम ॥
दसइँ दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि ।
साधन बृथा होइ सब मिलहिं न सारँगपानि ॥
(विनय० २०३)

इसलिये दृष्ट, श्रुत सभी भोगोंको असत् समझकर मनसे सर्वथा भूल जाय, कभी उनका स्मरण भी नहीं

करे; क्योंकि उनका स्मरण-उपसर्पण संसृति-प्रद तथा आत्मविनाशक है—

दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत् ।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक् ॥
(श्रीमद्भा० ११)

विषयोंका दर्शन, श्रवण, स्मरण, उपसर्पण तथा भोग यदि न हो तो मनुष्यका उनके प्रति कोई आकर्षण ही नहीं होता—जैसे मदिरा न पीनेवालेके मनमें मदिराके प्रति या मांस न खानेवालेके मनमें मांसके प्रति कोई आकर्षण-अभिरुचि नहीं होती, अपितु घृणा ही होती है। महाभारत, शान्तिपर्वके शृगाल-कश्यप-संवादमें इसे अच्छी तरह समझाया गया है—

न खल्वप्यरसज्ञस्य कामः क्वचन जायते ।
संस्पर्शाद् दर्शनाद्वापि श्रवणाद् वापि जायते ॥
न त्वं स्मरसि वारुण्या लट्वाकानां च पक्षिणाम् ।
ताभ्यां चाभ्यधिको भक्ष्यो न कश्चिद् विद्यते क्वचित् ॥
(१८० । ३०—३१)

मद्यस्य लट्वाख्यपक्षिमांसस्य च—कर्मणि षष्ठ्यौ।
त्वं न स्मरसि ब्राह्मणत्वेन तव तद्ग्रहाभावात् ॥
(नीलकण्ठी)

शृगाल-वेषमें इन्द्र कहते हैं—कश्यप ! तुम ब्राह्मण हो, अतः वारुणी मदिरा तथा लट्वाक् पक्षीमांस जैसे सरस पदार्थोंके भी रसको नहीं स्मरण करते; क्योंकि इनका तुम्हें आस्वाद ही नहीं मिला। इसी तरह जिन्हें जिन-जिन विषयोंका संनिधान—ज्ञान नहीं हुआ, वे उन-उनके प्रति अनाकृष्ट ही रहते हैं। शृङ्गीऋषिके सम्बन्धमें वनपर्व तथा वाल्मीकिरामायण, बालकाण्डमें कथा आती है कि वे वेश्याओंको भी ब्रह्मचारी समझते हुए निर्विकार ही रहे; क्योंकि उन्हें स्त्रियोंका कोई ज्ञान ही न था।

इन्धन न मिलनेसे अग्नि जैसे स्वयं बुझ जाती है, वैसे ही उपशमसे भोग-तृष्णा शान्त होती है। जैसे इन्धन या घी डालनेसे अग्निकी लपटें और तेज हो जाती हैं, उसी प्रकार भोगोंके द्वारा तो विषयतृष्णा और भी बढ़ती जाती है—

भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम् । (योगभाष्य २ । १५)

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(मनुस्मृति २ । ९४; विष्णुपुराण ४ । १० । २३; भागवत ९ । १९ । १४; लिङ्गपुराण ८६ । २४; पद्मपुराण सृष्टि० १९ । २६३; महा० आदिपर्व ७५ । ५०)

साथ ही मन तथा इन्द्रियोंका संयम, शान्ति, शीतलता, निरोधका अव्यर्थ प्रयास, महान् तप तथा महायोग भी हैं—

इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा ।
एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम् ॥
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ।
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय २११)

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । (योगद० १ । २)

और सबसे बड़ी बात तो यह है कि सभी इन्द्रियोंको संयमित करनेसे भगवान् भी अति शीघ्र प्रसन्न होकर दर्शन दे सकते हैं—

सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ।
(श्रीमद्भा० ४ । ३१ । १९)

दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं
विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः ।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने
भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥

इसलिये विषयोंकी आशा-तृष्णाका मनसे सदाके लिये विसर्जन कर देना ही सर्वोत्तम ज्ञान-वैराग्य-भक्तिकी साधना है, अन्यथा संसृतिका निस्तार कठिन है—

सदगुरु बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय की आसा॥
सुमति छुधा बाढ़ै नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥

× × ×

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु बिषय आस मन माहीं।
तुलसिदास जग जोनि भ्रमत तब लगि सपनेहुँ सुख नाहीं॥

अधिदेवता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'हमने यहाँ आकर भूल की। हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये।' उनके मुखपर किंचित् क्षोभके भाव थे। 'मैंने यहाँ बहुत बुरा स्वप्न देखा । स्वप्नमें बहुत भय लगा।'

उन्हें स्वप्नमें ही भय लगा हो, यह बात नहीं; वह भय जाग्रत्में भी इस प्रकार मनमें बैठ गया कि एकाकी कुछ क्षण भी उस भवनमें आगे वे नहीं रहीं। वे संन्यासिनी हैं, वर्षोंसे एकाकिनी रहती हैं बस्तीसे पर्याप्त दूर; किंतु अन्ततः महिला जो ठहरीं।

'क्या देखा तुमने जीजी!' उनके एक मामाके पुत्र संन्यासी हो गये हैं, वे भी साथ आये थे। अब स्मरण नहीं कि उन्होंने भी कोई स्वप्न देखा था या नहीं । स्वप्नका विवरण अनावश्यक है; एक काला, मोटा, काना पुरुष—उसकी चेष्टाने उन्हें डरा दिया था।

'स्वप्न तो मैंने भी देखा है।' मैं बता दूँ कि मुझे बहुत कम स्वप्न दीखते हैं; किंतु उस रात्रि उस सुनसान पड़ी रहनेवाली कोठीमें मैंने भी स्वप्न देखा था। कोई विशेष बात नहीं थी, जैसे कोई पहाड़ी वृद्धा स्त्री सिरके पास आ बैठी थी । 'डरनेकी तो कोई बात नहीं है। कल हमलोग यहाँ देरसे आये थे। अब आज यहाँ स्वभावतः आजका भागवत तथा गीताका पाठ होगा। आगे कोई दुःस्वप्न दीखे, इसकी कोई सम्भावना नहीं।' सचमुच हम आठ दिन उस भवनमें रहे; किंतु किसीको कोई स्वप्न-दुःस्वप्न फिर नहीं दीखा।

कुछ दिन पहिले मैं नीलकण्ठ आया था, ऊपर भुवनेश्वरीको जाते समय यह कोठी देख गया था। नीलकण्ठ कुछ दिन रहनेका विचार था और रहनेके लिये ऐसा एकान्त, खुला भवन भला किसे पसंद नहीं होगा। दो-चार दिन बाद जब हम कुछ दिन रहनेके लिये आये, तब इस कोठीमें आ गये।

ऋषिकेशसे लगभग सात-आठ मील दूर पर्वतोंसे घिरा यह नीलकण्ठ तीर्थ अपनी अनोखी सुषमा रखता है। यहाँका शान्त, पवित्र वातावरण—नीलकण्ठकी चर्चा फिर कभी। यह कोठी नीलकण्ठसे लगभग एक फर्लांग ऊपर है। नीलकण्ठ आते समय यही पहिले दृष्टिपथमें आती है।

कभी बड़ा वैभव रहा होगा यहाँका। किसी रानीने अपने एकान्तवास तथा भगवद्भजनके लिये इसे बनवाया था। उस समयके उपवनकी मात्र कल्पना देनेवाले कुछ फलवृक्ष तथा मल्लिकाकी जंगली-सी बन गयी लताएँ अब बच रही हैं।

दो विशाल कोठियाँ हैं। उनमें मुख्य कोठी तो अब रहने योग्य नहीं। सूने भवनसे कुछ मिल जानेके लोभमें अपनी मानवतासे च्युत मनुष्योंद्वारा उसकी साँकलें-कुंडे इस प्रकार तोड़ दिये गये थे कि अब उसका कोई द्वार बंद करके आप बाहर जा सकें, ऐसी स्थिति नहीं। उसमें श्रावण मेलेके समय अवश्य यात्री रात्रि-निवास करते होंगे; क्योंकि एक बड़े कमरेमें जले बीड़ीके टुकड़ोंकी ढेरी पड़ी थी।

दूसरी कोठी उससे कुछ कम सज्जित है; किंतु अपेक्षाकृत स्वच्छ और सुरक्षित है। दूसरी कोठीमें स्नान-घर भी है और उसके पाइपमें अब भी जल आता है। हम इस दूसरी कोठीमें ही ठहरे थे। वैसे अब ये कोठियाँ नैपालके अधिकारमें हैं। सर्वथा उपेक्षित होनेसे जीर्ण हो गयी हैं और उनके अंश गिर रहे हैं। नौकरोंके भवनोंमेंसे बहुत-से गिर चुके हैं; जो हैं भी, वे रहने योग्य नहीं।

दोनो कोठियोंके मध्य सम्भवतः पुराना रसोईघर है। उसमें एक पर्वतीय वृद्धा रहती है। वही कोठियोंकी चौकीदार है। उसने भैंस, गाय, भेड़ें पाल ली हैं। कोठीके पासकी भूमिमें कुछ बो लेती है। भूले-भटके मेरे-जैसे यात्री आ टिके तो कुछ पारितोषक मिल जाता है, बस। अब कोठीके स्वामी या उत्तराधिकारी तो सम्भवतः यह भूल ही गये हैं कि उनकी यहाँ कोई कोठी भी है।

हम कोठीमें आनन्दपूर्वक रहे। अबाबीलोंके लिये पर्याप्त कमरे खाली पड़े थे। हमने उन्हें बाधा नहीं दी और वे भी रात्रिमें यदा-कदा देखने ही आती थीं हमारे कमरेमें कि उनके यहाँ ये तीन द्विपाद् पक्षहीन अतिथि कैसे आ गये हैं।

× × ×

'यहाँका अधिदेवता मर गया है।' मेरे वे बन्धु स्वर्गाश्रमसे पधारे थे। उनकी व्यवस्था न होती तो हम इस पर्वतीय स्थानमें इस प्रकार रह नहीं पाते। वे मुझसे मिलने ही आये थे। यह कठिन चढ़ाई पार करके और भोजनोपरान्त मध्याह्न-विश्राम करने हमारे समीप कोठीमें आ गये थे। 'यहाँ आप-

लोगोंको नहीं रहना चाहिये। आप नीचे धर्मशालामें ऊपरके कमरेमें निवास करें।'

उन्होंने पता नहीं क्या अनुभव किया। अवश्य उन्हें कुछ मानसिक उद्वेग अनुभव हुआ होगा। रात्रि-विश्राम उन्होंने वहाँ न करके नीचे किया और हमारे लिये भी नीचेकी धर्मशालामें एक कमरेका प्रबन्ध करके तब दूसरे दिन प्रातः लौट गये।

'अधिदेवता मर जाता तो यह भवन टिकता नहीं।' मैं मन-ही-मन सोच रहा था—प्रत्येक पदार्थका अधिदेवता होता है, यह हिंदू-शास्त्र बतलाते हैं। वह भवन हो या छोटा कलश अथवा कुर्सी—पदार्थ बनता है और उसका अधिदेवता उसमें आ बसता है, जैसे शरीर माताके गर्भमें आया तो जीव उसमें आ जाता है। अधिदेवता प्रसन्न रहे तो पदार्थका उपयोग करनेवालेको वह पदार्थ सुख, शान्ति, लक्ष्मी और सुयश देनेवाला होता है और अधिदेवता अप्रसन्न हो जाय तो पदार्थ दुःख, अशान्ति, रोग, दरिद्रता, अयशादिका हेतु बन जाता है।

घर बनाकर क्षेत्रपालका पूजन तथा प्रत्येक पदार्थका उसके उपयोगसे पूर्व पूजनका विधान—परिपाटी सनातनधर्ममें उसके अधिदेवताकी तुष्टिके लिये ही है।

'अधिदेवता मर जाता तो भवन टिका कैसे रहता।' अधिदेवता भी मरता तो है। ग्रामका अधिदेवता मरता है तो ग्राम, घरका मरे तो घर और नगरका मरे तो नगर नष्ट हो जाता है। वहाँ दूसरा ग्राम, घर या नगर बसानेके प्रयत्न निष्फल जाते हैं और ऐसे प्रयत्नोंमें बहुत हानि होती है धन तथा जीवनकी भी।

'जीव न रहे तो शरीर टिका कैसे रहेगा। वह सड़ जायगा।' किंतु एक विचार साथ ही आया—'मनुष्य बहुत दिनोंतक अकेला रहे तो जनसम्पर्कमें जाना नहीं चाहता। सूने भवनका अधिदेवता भी तो एकान्तप्रिय हो जाता होगा। उसे उद्वेग होता होगा लोगोंके आनेसे और तब वह उन्हें उद्विग्न करता होगा।'

'आज यहाँका अधिदेवता दुखी होगा।' हम जब उस कोठीको छोड़कर नीचे जाने लगे, तब उन संन्यासिनी महिलाने कहा—'हमारे रहनेसे यहाँ दीपक जलता था, पाठ-पूजा होती थी और कम-से-कम दो-तीन कमरोंमें स्वच्छता तो रहती थी।'

'अवश्य वह दुखी होगा।' मुझे भी यही लगा। हम कोठी जब छोड़ना चाहते थे, तब छोड़ नहीं सके थे। दो दिनका विलम्ब हुआ था और वह भी नाममात्रके कारणसे। लगता था कि अधिदेवताको हमारा वहाँसे जाना अच्छा नहीं लगा था।

हम कोठी छोड़ देनेको उत्सुक थे; क्योंकि उसमें फुदकनेवाले छोटे कीड़े—पिस्सू बहुत थे और हमारे यहाँ आ जानेसे उन्हें उद्वेग हो रहा था। उद्विग्न होकर वे हम सबको उद्विग्न करते थे। उनके काटनेसे लाल फफोले उठ जाते थे और उनमें खाज तथा जलन होती थी। ऐसे फफोलोंकी संख्या दस-बीस प्रतिदिन शरीरपर बढ़ जाय, इतनी सहनशीलता हममें नहीं थी।

'हम यहाँ आये और रहे। यहाँके अधिदेवताको हमने आनेपर न तो प्रणाम किया और न उसके निमित्त एक धूप-बत्ती जलायी, न दो पुष्प अर्पित किये।' जाते-जाते मुझे यह स्मरण आया। यह भी मनमें आया कि प्रथम दिन जो स्वप्न दीखे, उसमें यह भी हेतु हो सकता है।

'लगता है वह भी उदासीन हो गया है इस भवनसे।' जब भवनके वर्तमान स्वामी ही उसकी खोज-खबर नहीं रखते तो ऐसे जीर्ण, अस्वच्छ, धूलि, पक्षियोंकी बीट तथा गंदगीसे भरे, नित्य अन्धकारपूर्ण भवनमें उसके अधिदेवताको क्या प्रसन्नता होगी। एक दिन वह इसे छोड़ देगा और भवन नष्ट हो जायगा।

'मैं उसे प्रणाम करूँगी।' संन्यासिनी महिलाने कहा। सचमुच भवनसे उतरकर उन्होंने नीचेकी सीढ़ीपर मस्तक रखा और भवनके अधिदेवतासे क्षमा माँगते हुए विदा ली।

हम नीचे धर्मशालामें चले आये; क्योंकि हमें पिस्सुओंके मध्य रहना स्वीकार नहीं था। उस भवनके अधिदेवता—उन्हें मेरा प्रणाम! हम जहाँ रहते हैं, जिन वस्तुओंका उपयोग करते हैं, उनके भी तो अधिदेवता हैं। उनकी ओर हमने कभी ध्यान दिया? उन्हें हमारी केवल प्रणति ही तो अपेक्षित है।

इस विराट् विश्वका अधिदेवता—वह परमपुरुष, अच्छा अब उसकी चर्चा रहने दें। वह प्रत्येकका अपना है—उसे तो प्रणति भी नहीं, केवल यह अपेक्षित है कि उसे अपना अनुभव किया जाय।

क्षुरस्य धारा

[कहानी]

(लेखक—श्रीराधाकृष्ण)

आज रविवारका दिन था। सबेरेसे ही बूँदाबाँदी हो रही थी। दिनके ग्यारह बज चुके थे; किंतु लगता था जैसे अभी सबेरा हुआ हो। रसायन-शास्त्रके बड़े प्रोफेसर, जो हमेशा रेशमी रूमालसे अपनी मोटी-सी नाकको पोंछते रहते हैं, रामभरोसेसे कह गये थे कि कल मैं लैबरेटरीमें आऊँगा, तुम भी आ जाना। रामभरोसे उस प्रयोगशालामें पिउन था। वह जानता था कि प्रोफेसर साहब कहनेको कह रहे हैं, किंतु आयेंगे नहीं। फिर भी वह आ गया था।

कालेजकी लैबरेटरीमें काम करते हुए रामभरोसेको साढ़े तीन साल होनेको आये। वहाँ वह अन्य पिउनों-से भिन्न है। वह कुछ पढ़ा-लिखा और अधिक समझदार लगता है। फिर भी अपने व्यवहार और बातचीतसे इस बातको प्रकट नहीं होने देना चाहता था। उसका चेहरा रूखा और भद्दा था, किंतु उसकी आँखोंमें बुद्धिकी चमक थी। इतने दिनोंसे प्रयोगशालामें काम करते-करते वह वहाँकी सारी वस्तुओंका नाम जानने लगा था, बल्कि वह उन वस्तुओंका प्रयोग भी जानता था। कभी-कभी वह पहले और तीसरे वर्षके छात्रोंकी प्रयोगके समय सहायता भी करता था।

आज उस प्रयोगशालामें सन्नाटा छाया हुआ था। वहाँ कोई नहीं, कोई आयेगा भी नहीं। रामभरोसेने आलमारी खोली और वहाँका सबसे बढ़िया अणुवीक्षण यन्त्र निकालकर टेबलपर रख दिया। आज उस अणुवीक्षण यन्त्रके द्वारा वह स्वयं कुछ देखना चाहता था। उसने एक छूरा लिया और उसकी धारको अणुवीक्षण यन्त्रसे देखा।

····उसके मुँहसे एक चीख-सी निकल गयी। वह चौंककर वहाँसे इस तरह हटा जैसे किसीने जबरदस्ती उसे ढकेलकर अलग कर दिया हो। क्षण-भरमें ही उसका शरीर पसीनेसे तर हो गया। उसकी आँखें विकृत-सी दिखलायी देने लगीं। उसके होंठ हिल रहे थे।

जैसे-जैसे वह अपनेको काबूमें करनेकी चेष्टा करता गया, वैसे-वैसे उसे रुलाई आने लगी। अणुवीक्षण यन्त्रसे उसने अभी जो छूरेकी धार देखी थी, वह धार सीधी नहीं थी। उसे लगा जैसे उसने ऊबड़-खाबड़ किसी वस्तुको देखा है। क्या छूरेकी धार ऐसी ही होती है ? ····उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। रामभरोसे वहाँ खड़ा-खड़ा रो रहा था। उसका मन सुदूर अतीतमें ऊब-डूब करने लगा था।

उसकी कल्पनाकी आँखें राजीवको देख रही थीं। उसकी छातीके अंदर छूरा पूरा घुस गया था। वहाँसे खूनका फव्वारा छूट रहा था। इसी हालतमें राजीव उससे कह रहा था—'छूरेकी धारका रूप तुमने देख लिया न ! क्या वह सीधी है ?'

रामभरोसे आजसे बीस साल पहलेके जीवनमें पहुँच गया था। उस समय वह पंद्रह सालका किशोर था। उसके चेहरेपर तेज था। वह दर्पके साथ चलता। वह अपनेको सच्चा आदमी मानता था। अपनी सचाईपर उसे गर्व था। उसकी सचाईका तेज उसकी आँखोंसे झलकता था।

उस समय उसका नाम रामभरोसे नहीं, रघुबीर था। राजीवसे उसकी मित्रता थी। दोनों सदा साथ रहते, साथ ही खेलते। वह उनके पड़ोसी विद्यासागर मिश्रका लड़का था।

चैतका महीना। पेड़ोंपर आमके टिकोरे लद गये थे। रामभरोसेके पास एक झोली टिकोरा था। राजीव अपने घरसे नमक-मिर्च लेता आया था। दोनों आमके बगीचेमें आम छील रहे थे और खा रहे थे।

इसी समय एक बात उठी। राजीवने उसे चिढ़ाना चाहा और रामभरोसे सचमुच चिढ़ गया। राजीव अपने हाथमें छूरा लेकर कह रहा था कि 'छूरेकी धार कभी सीधी नहीं होती!'

रामभरोसेने उसके हाथसे छूरा छीन लिया। क्रोधसे बोला—

'फिर छूरेकी धार होती कैसी है?'

'अजी, वही ऐंड़ी-बेंड़ी होती है। और कैसी होगी।'

'छूरा तुमने कभी देखा भी है?'

'छूरा तो तुमने भी देखा होगा, किंतु छूरेकी धार नहीं देखी होगी।'

बात बढ़ती चली गयी। बात बहुत बढ़ गयी। रामभरोसेकी आँखें लाल हो उठीं। उसका चेहरा तमतमा रहा था। वह कुछ कर डालना चाहता था। छूरेकी धार सीधी है। यह प्रत्यक्ष सत्य है। इस सचाईको भी यह झूठ बतला रहा है। रामभरोसेने अपना आपा खो दिया। क्रोधका एक ऐसा भीषण आवेश आया कि········

········छूरा राजीवकी छातीमें धँस गया। उसकी छातीसे खूनका इतने जोरोंसे उबाल आया कि रामभरोसे-का सारा चेहरा उस रक्तसे भर गया। राजीव प्राणपण-से चिल्ला उठा और जमीनमें गिरकर लोटने लगा। ठीकसे छटपटा भी नहीं पाया कि तुरत ही लड़खड़ा-कर शान्त हो गया।········यह मैंने क्या कर डाला?···· हत्या!!········

रामभरोसे खेतकी पगडंडियोंसे भागता जा रहा था, जिसके दोनों ओर झींगुर बोल रहे थे। नदीके किनारे पहुँचकर उसने अपने चेहरेका लहू धोया। उसका तेज भरा दीप्त चेहरा अब फीका दिखलायी दे रहा था। उसे लगा कि नदीके जलके भीतर भी राजीव लोट रहा है और उसके चारो ओर लहू बह रहा है। वह वहाँसे भी भागा।············

जब वह प्रकट हुआ, तब उसका नाम रघुबीर नहीं, रामभरोसे था। कालेजकी प्रयोगशालामें नौकरी करते हुए उसे साढ़े तीन साल होनेको आये। आज उसने छूरेकी धारका असली रूप देखा········राजीवको देखा········उसकी छातीमें छूरा घुसा हुआ है और वह चिल्लाता हुआ धरतीपर लोट रहा है········

रोते-रोते रामभरोसेकी हिचकियाँ बँध गयी थीं। वह बुद्बुदा रहा था मानो बीस साल पहले मरे हुए अपने मित्र राजीवसे बातें कर रहा हो। वह कह रहा था—"मैं नहीं जानता था····मुझे ज्ञात नहीं था····सचाई क्या है, इसे जानना कठिन है। सचाईके लिये किसीपर आक्रमण करनेके बदले सत्यके लिये अपनी जान दे देना अधिक उचित है।····मैंने बुरा किया राजीव! मैंने सत्यके लिये जान ली। सत्यके लिये अपनी जान दे सकता तो कितना अच्छा था।····

उसका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हुआ था। वह बेचैन था, बहुत ही बेचैन। उसकी जीभ सूख रही थी। वह पानी पीना चाहता था। प्रयोगशालाके बाहर झमाझम वर्षा हो रही थी। रह-रहकर बिजली कड़क उठती।

विश्वकी बढ़ती जनसंख्या और उसके भोजनके प्रश्नका हल

[मांसाहारका त्याग]

(सर चार्ल्स डार्विनका मत)

लंदनसे प्रकाशित होनेवाले 'टाइम्स' पत्रके ३० अप्रेल, १९५८ ई० के अङ्कमें सर चार्ल्स डार्विनने संसारमें बढ़ती हुई जनसंख्याके कारण उत्पन्न होनेवाले भयंकर संकटसे हमको सचेत किया है। इस प्रकारके अभिप्राय अनेक विद्वानोंके हैं, अतएव विशेषकर संसारमें फैलनेवाली भुखमरीको रोकनेके लिये साधारण व्यावहारिक मार्गको खोजना आवश्यक है।

सन् १८४५ ई० में संसारकी जनसंख्या लगभग एक अरब थी और वह बढ़कर आज दो अरब सत्तर करोड़ हो गयी है। कुछ अङ्क-शास्त्रियोंका अनुमान है कि यह संख्या बीसवीं सदीके अन्तमें बढ़कर पाँच अरब हो जायगी। यह अनुमानमूल चेतावनी कहाँतक ठीक या बेठीक है—इसपर विचार न करके, इसे सम्भव समझकर संसारके भोजनके प्रश्नको लक्ष्यमें रखकर विचार करना बुद्धिमानीका कार्य होगा।

संयुक्त-राष्ट्रिय संगठन नामक संस्थाके आहार और कृषि तथा दूसरे सम्बन्धित विषयोंके अन्वेषकोंने इस विषयमें पर्याप्त सामग्री प्रकाशित की है। उनके अन्वेषणके द्वारा यह मौलिक तथ्य सिद्ध हो जाता है कि यदि मनुष्य-जाति बढ़ती हुई जन-संख्या तथा उसके फलस्वरूप अनाजके उत्पादनके लिये कमती पड़नेवाली भूमिकी उपजसे उत्पन्न होनेवाली नयी विश्वव्यापी समस्याका सामना करनेके लिये तैयार नहीं होती तो या तो उसे परिस्थितिके अनुकूल अपनेको बनाना पड़ेगा या वह नाशको प्राप्त होगी।

संक्षेपमें आधुनिक ढंगसे जोती जानेवाली १.६३ एकड़ भूमि एक मनुष्यके एक वर्षके लिये आपेक्षित मांस, अन्न तथा फल और शाककी मिली-जुली खुराक पैदा करनेके लिये आवश्यक है। इसमेंसे ०.३३ एकड़ भूमि अन्न, फल और शाकके उत्पादनके लिये आवश्यक है और शेष १.३० एकड़ भूमि मांसाहारकी पूर्ति करनेवाले प्राणियोंके निर्वाहके लिये आवश्यक है। जब अन्न, फल और शाकाहारपर निर्वाह करनेके लिये प्रतिमनुष्य ०.३३ या ०.७५ एकड़ वार्षिक भूमिकी आवश्यकता है; और यदि दूध-घी आदिका उपयोग कम कर दिया जाय तो इससे भी कम भूमिपर एक मनुष्य निर्वाह कर सकता है। इस प्रकार पश्चिमकी धारणाके अनुसार एक मनुष्यके अच्छे पोषक शाकाहारकी प्राप्तिके लिये केवल ०.५ एकड़ भूमि पर्याप्त हो सकती है। परंतु यदि भारतमें प्रति मनुष्य ०.८ एकड़ भूमि खेतीके लिये मिले तो वह पर्याप्त न होगी; क्योंकि भारतमें प्रति एकड़ अन्नका उत्पादन आधुनिक ढंगसे की जानेवाली खेतीके उत्पादनका $\frac{1}{3}$ (एक तिहाई) ही होता है। बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता है कि यदि मांसाहार छोड़ दिया जाय तो ये सब प्राणी किस काम आयेंगे! इसका उत्तर इस प्रश्नसे ही मिल रहा है कि देशमें जब मोटरके द्वारा यातायात होने लगा, तब घोड़ोंका क्या हुआ? सन् १९०० ई०में संयुक्तराज्यमें २०,००,००० घोड़े थे। सन् १९५७ ई० में १,७५,००० हजार घोड़े रह गये और प्रतिवर्ष उनकी संख्या घटती ही जा रही है। इसका कारण यह है कि समस्त पालतू जानवरों और विशेषकर काटे जानेवाले जानवरोंके पालनमें मनुष्य कोर-कसर करते जा रहे हैं। इसलिये जैसे पालन-पोषणमें कमी होनेसे घोड़ोंकी संख्या घटी है, वैसे ही पशुओं, सूअरों आदिकी संख्या भी घट सकती है।

मांसाहारके उत्पादनके लिये अन्नाहारकी अपेक्षा

अधिक भूमिकी आवश्यकता पड़ती है; इस प्रकार भोजनकी समस्याका समाधान स्पष्ट है। इसका उपाय प्रत्येक व्यक्ति और परिवारके हाथमें है। जो लोग आज थोड़ा मांस खाते हैं, वे मांस खाना बिल्कुल छोड़ दें और जो कोई एकदम छोड़ देनेके लिये पैर आगे नहीं बढ़ा सकें, वे धीरे-धीरे मांस खाना कम कर दें तो बचनेवाली भूमि अधिक अन्न-फल और शाक उपजानेके लिये मिल जायगी,× और इस प्रकार एशिया, अफ्रिका-जैसे महादेशोंके करोड़ो मनुष्योंके लिये, जिन्हें सदा कम पोषण प्राप्त होता है और जिनके वंशजोंके सामने, सर चार्ल्स डार्विनकी चेतावनीके अनुसार, भयङ्कर संकट उपस्थित है, अधिक अन्न पैदा हो सकेगा।

इस विषयके महत्त्वकी ओर विश्वभरकी जनताका ध्यान आकर्षित करना सर्वापेक्षा आवश्यक है। प्राणियोंका मांसाहार नहीं करना चाहिये, इसमें उनके प्रति केवल दयाकी भावनाका ही प्रश्न नहीं है, बल्कि इस प्रश्नमें भोजनकी उन आदतोंका सुधार करना है, जिनके परिणामस्वरूप हमारे बन्धु-बान्धवोंको भूमिकी न्यून-से-न्यून आवश्यकताओंसे वञ्चित रहना पड़ता है और जिससे उनके दुःख बढ़ते जाते हैं।

यदि हम निश्चय कर लें कि आज जो विश्वमें नयी परिस्थिति हमारे सामने उपस्थित है, उसको अनुकूल बनानेके लिये हम इस विधायक मार्गको ग्रहण करेंगे तो भविष्यमें बढ़नेवाली करोड़ोकी जनसंख्याके विषयमें हमको भय न रहेगा; और जिस प्रकार हम परिवारमें वृद्धि होती है तो उसका स्वागत करते हैं, उसी प्रकार बढ़ती हुई जनसंख्याका भी निर्भयताके साथ स्वागत कर सकेंगे।*

[दि थियासाफिकल आर्डर ऑफ सर्विस, ५० ग्लुस्टरवेस लंदन—के द्वारा प्रकाशित एक अंग्रेजी पत्रिकासे संगृहीत] —'श्रीजीवदया'से साभार

× अहिंसा (ता० १ । ७ । ५९) में छपा है कि 'केन्द्रके खाद्यान्न' कृषि-संगठनके कार्यालयके एक प्रवक्ताने अधिकृतरूपसे बताया है—'देशमें बहुत शीघ्र खानेयोग्य मछलीका आटा उपलब्ध हो सकेगा। यह आटा स्वीडनकी एक कम्पनीके द्वारा तैयार किया जायगा। × × × ताजी मछलीके मांसमें १५ प्रतिशत प्रोटीन होता है और इस आटेमें प्रोटीनका औसत ८५ प्रतिशत होगा। इस मछलीके आटेसे रोटी, बिस्कुट इत्यादि आसानीसे बनाये जा सकते हैं।

सरकारके द्वारा भाँति-भाँतिसे मांसाहारका प्रचार किया जा रहा है। मांसमें प्रोटीनकी मात्रा अधिक बतलाकर मांसको राष्ट्रिय उद्योग और भारतीयोंके लिये अनिवार्य भोजन बतलाया गया है। खाद्यविभागकी रिपोर्टमें मांसका वार्षिक उत्पादन ४ लाख टन बतलाकर उसका मूल्य ७६ करोड़ बताया गया है और इस नारकीय धंधेसे सरकारको २२ करोड़की बचत बतायी गयी है। जनताको आगाह किया गया है कि वह मांसके बढ़ते हुए व्यापारके लिये अच्छे नस्लके जानवरोंका (उनकी हत्याके लिये) पालन करे। इस प्रकार मछली-उद्योग, सूअर-उद्योग आदिके नामसे मांसाहार तथा हिंसाका प्रचार करके मानव-वृत्तियोंको दानव बनाया जा रहा है। यूरोपवाले जहाँ मांसाहारसे आर्थिक हानि देखते हैं, वहाँ भारतीय उसमें लाभ मान रहे हैं। विधिकी विडम्बना और भारतका दुर्भाग्य ! पर निरामिषाहारी अहिंसक जनताको अपना कर्त्तव्य तो सोचना चाहिये !

* बढ़ती हुई जनसंख्याको रोकनेके लिये इस समय अनैतिक कृत्रिम साधनोंके उपयोगका प्रचार किया जा रहा है और उसपर बड़ा धन भी व्यय हो रहा है। इस विषयमें श्रीशिवचरणलालजी माधोगंज, जिला हरदोईसे लिख रहे हैं कि—'शौच जानेके पश्चात् मूत्रस्थानको अंदरसे धोकर मलस्थानको सब धोते ही हैं, इसके बाद शुद्ध मिट्टी दोनो स्थानोंपर लगाकर तीन बार धोनेसे काम-वासनाजनित चित्तकी चञ्चलताका नाश हो जाता है। इसके बहुत अनुभव हैं। स्त्रियोंको भी मूत्रस्थानके आगेके हिस्सेको तथा मलस्थानको भी मिट्टी लगाकर तीन बार धोना चाहिये। इस प्रयोगसे अपने-आप ही संयम होता है और सहज ही संतति-निरोधका कार्य हो जाता है।

पशु-पक्षियोंके साथ एकात्मता और मैत्री

(लेखिका—बहिन कु० रैहाना तैयबजी)

× × × हम सब अल्लाहकी प्रजा हैं। हम सबोंके पिता जगत्के स्रष्टा, संरक्षक और परमप्रेमी मित्र भगवान् हैं। हम तमाम जीवोंके रूप और संस्कार भले ही भिन्न-भिन्न हों, हमारे अंदर उस दिव्य ज्योतिका ही वास है, जो समस्त जीवनका जीवन है, जो समस्त प्राणोंका प्राण है। जब सभीमें एक ही आत्माका नूर रौशन है, तब कौन किसे श्रेष्ठ माने और कौन किसे कनिष्ठ समझे। अल्लाहके सामने कौन-से भेदभाव टिकनेवाले हैं और उसके दरबारमें कौन-सी ऊँच-नीच भावना कायम रह सकती है। इस हकीकतको हरेक धर्मने माना ही है; क्योंकि तमाम धर्म तथा उन्नतिका पाया इस आत्मैक्य, प्रेम, बन्धुत्व और सहानुभूतिपर खड़ा किया होता है। मौलिक सिद्धान्त एक ही होता है—परमात्मा एक है, आत्मा एक है, सब अनेकतामें एकताका साक्षात्कार करना ही धर्मशुद्धि और आत्मशुद्धि कहलाता है। ठीक, हम इस सत्यको ऐसे भूले हुए हैं; आज शक्लसे मानवी होते हुए भी, हमारी हस्ती, हृदय और कर्मसे मानवताका रंग बिल्कुल ही उड़ गया है और जाहिर है कि जब इन्सानसे इन्सानियत निकल जाती है, तब उसमें शैतानियत भर जाना लाजिमी है। आसुरी सम्पत्तिका विकास दैवी सम्पत्तिके विनाशसे ही तो होता है।

तो हम अपनी नष्ट मानवताकी पुनः रचना कैसे शुरू करें? हरेक आदमी इसपर सोचे, जो आदमी होनेका दावा करता है। मैं आजतकके अपने मनन-चिन्तनका सार यहाँ आपके सामने पेश करती हूँ। पहले तो बच्चोंको प्राणियोंसे मैत्री-भाव, बन्धुत्व-भाव रखना सिखाना चाहिये। हमारी हर प्रार्थनामें मानवेतर कुटुम्बियोंके लिये एक प्रार्थना शामिल होनी ही चाहिये। हमारी पुरानी प्रथा कितनी अच्छी थी कि हर भोजनका कुछ हिस्सा हमारे पशु-पक्षी मित्रोंके लिये हुआ करता था। आजकी तंगीके जमानेमें अगर इतना न हो सके तो कम-अज-कम बचे-खुचे खाद्यको इकट्ठा करके पक्षियों या प्राणियोंके लिये तो रक्खा जा सकता है। बच्चोंको सिखाया जा सकता है कि 'प्राणियोंको इजा देना, उन्हें सताना, उन्हें पत्थरोंसे मारना, उनकी हाय लेना महापाप है तथा जो जीव अन्य जीवोंका पीड़न करता है, वह मानवतासे गिर जाता है; इतना ही नहीं, वह अपने लिये एक दारुण इजा और पीड़ाकी दुनिया बनाता रहता है, जिसमें घड़ी आते ही उसे रहना ही पड़ेगा।' ××× । ('मंगल प्रभात')

अब भगवान् ही मेरे एकमात्र काम्य हैं

आजतक मैं भगवान्का न होकर और भगवान्को न चाहकर विषय-कामना और भोग-लालसाके फंदेमें फँसा हुआ दुःखकी ज्वालासे जलता रहा किंतु अब मैं इस ज्वालासे सर्वथा हटकर भगवान्के सहज सौहार्द एवं अनन्त आत्मीयतापर विश्वास करने लगा हूँ। अब जगत्के किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थितिकी मुझे कोई कामना-लालसा नहीं रही है; अब भगवान् ही मेरे एकमात्र काम्य हो गये हैं। भगवान्की कामना हृदयमें जागते ही जैसे सूर्यके उदय होते ही सम्पूर्ण अन्धकार भाग जाता है, वैसे ही अन्य कामना-लालसाएँ सब विलीन हो रही हैं। अब सभी परिस्थितियाँ, सभी वस्तुएँ, सभी प्राणी स्वाभाविक रूपमें मेरे कल्याणमें लगे हुए अनुभव हो रहे हैं।

अब मुझे अपने योगक्षेमकी भी चिन्ता नहीं सता रही है। भगवान्पर भरोसा करके अब मैं पूर्ण निर्भय तथा निश्चिन्त हूँ; मेरे लिये जो भी उचित, हितकर और आवश्यक होगा, भगवान् स्वतः ही उसकी रक्षा और पूर्तिकी व्यवस्था कर देंगे।

अब भगवान् ही मेरे एकमात्र काम्य हैं।

साधकोंके उद्गार

(१)

एक साधककी भावना और प्रार्थना

××× ऐसा दिन कब होगा, जब सब कुछ भुलाकर यह मेरा मन भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके श्रीचरणोंमें ही निरन्तर लगा रहेगा। अभी तो मन लौकिक परिस्थितियोंमें सुखकी खोज करता है। संसारकी निन्दाका, घरके लोगोंकी नाराजीका भय पद-पदपर सामने आता है। मनमें राग-द्वेषकी बातोंका भी कुछ चिन्तन होता है। मन-बुद्धि, इन्द्रिय—सभीमें विकार भरे हैं। इस दशामें प्रभु मनमें कैसे बसकर रह सकते हैं। पर क्या करूँ—जैसा भी हूँ, प्रभुका ही हूँ, प्रभुके सामने हूँ। ये सारे विकार भी प्रभु ही दूर करेंगे। मुझमें ऐसी कौन-सी योग्यता है, ऐसी क्या साधन-शक्ति है, जिसके बलसे मैं मनको निर्विकार, कामना-वासनारहित, सर्वथा निर्मल—विशुद्ध बना सकूँ, सर्वथा संकल्परहित कर सकूँ। सब कुछ प्रभु ही करेंगे। जिन्होंने मेरा इतना मन लिया है, वे ही पूर्णरूपसे भी इसे लेंगे। पर मेरा आत्मसमर्पण भी तो सच्चा नहीं। सच्चा समर्पण होता तो बुद्धि-मन-इन्द्रियाँ पृथक् कैसे रह पाते? सब प्रभुमें ही तो समाये रहते। पर इन विकारोंके रहते सच्चा आत्मसमर्पण हो भी कैसे सकता है? मेरे कहनेसे क्या होगा, प्रभुसे मेरे हृदयकी कोई भी बात छिपी तो है नहीं। जिसे मैं नहीं जानता, उसे भी वे जानते हैं। मेरे अन्तस्तलमें क्या-क्या भरा है, उसे प्रभु प्रतिक्षण देखते हैं। मैं ऐसे ही मलिन हृदयको लेकर भगवत्प्रेमकी बातें करता हूँ, इसे भी प्रभु अच्छी तरह जानते हैं। यह सत्य है कि प्रभु सच्ची चाह देखते हैं, ऊपर-ऊपरकी बातोंसे कुछ नहीं होता। परंतु यह सच्ची चाह भी तो प्रभुकी ही प्रेरणा—कृपासे प्रकट होगी। प्रभु ही चाह करायेंगे और प्रभु ही पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण भी करा लेंगे। फिर, 'मेरा' कहनेके लिये प्रभुके सिवा मेरे पास कुछ भी नहीं रह जायगा। मन, बुद्धि, इन्द्रिय—सभी उन प्रभुके होकर रहेंगे। फिर, किसी सुख-दुःखकी कल्पना भी नहीं होगी। मैं कहीं भी रहूँ, किसी भी स्थितिमें रहूँ, सदा प्रभुमें ही रहूँगा और प्रभु सदा मुझमें रहेंगे। न पृथक् अहंकारका अस्तित्व रहेगा, न कहीं ममता रहेगी और न कामना-वासना ही। सब कुछ प्रभुके समर्पित हो जायगा। बस, प्रभुके पावन मधुर चरणारविन्दयुगलमें ही मन निर्विकार—अन्य संकल्परहित होकर संलग्न हो जायगा। प्रभो! मेरी यह इच्छा पूर्ण करें, यही उनके सर्वसमर्थ चरण-कमलोंमें इस दीन-हीनकी एकमात्र माँग है।

(२)

एक साधकका अनुभव

आजकल संसारके प्राणी-पदार्थोंसे वैराग्य हो रहा है। प्रभुकी विशेष स्मृति होती है। सांसारिक ममताका बन्धन बिल्कुल ढीला हो गया है और टूट रहा है। प्रभु जो कुछ करते हैं, सब परम मङ्गल ही करते हैं। वे तो सदा-सर्वदा हमारे पास हीं रहते हैं। हम स्वयं ही उन्हें दूर मानकर उनकी समीपताका अनुभव करना ही न चाहें तो यह हमारा ही दोष है। मुझपर प्रभुकी असीम कृपा है, मैं इसका अनुभव करता हूँ। मेरा मन दिन-रात प्रभुमें ही बसा रहता है और इसमें मुझे परम सुखकी अनुभूति होती है। मेरा यह अपना सुख कौन छीन सकता है? यह तो हृदयमें प्रभुके मिलनका परम सुख है। किसकी शक्ति है, जो मेरी इस सुखकी वस्तुको छीन सके? शरीर कहीं रहे, इसपर किसीका भी अधिकार रहे। पर मेरे उस मनपर—जो नित्य-निरन्तर मधुलोभी भ्रमर बनकर प्रभुके चरणकमलोंका रस प्राप्त करता रहता है—किसका अधिकार हो सकता है? इसपर दूसरा कोई कैसे नियन्त्रण कर सकता है? मेरे इस असीम सुखको न कोई देख पाता है, न जान पाता है। बहुतोंके मनमें तो यही आश्चर्य नहीं समा रहा है कि इसके पास ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसको लेकर इसके मुखपर—सांसारिक प्रतिकूलताओंके होते हुए भी—सदा निर्मल प्रसन्नता छायी रहती है, कभी मलिनता आती ही नहीं।

शाकाहारके चमत्कार

(लेखक—श्रीमगनलालजी पी॰ जोशी)

शाकाहार मनुष्यजातिका स्वाभाविक भोजन है। यह स्वास्थ्यप्रद एवं सभी पोषक-तत्त्वोंसे परिपूर्ण है। पाश्चात्त्य यूरोपियन देश, जो कि अधिकांशतः आमिषभोजी हैं, भी इस तथ्यको स्वीकार करते हैं। यह धारणा कि मांसाहारसे शक्ति प्राप्त होती है, सर्वथा भ्रान्त है। यदि वे इसका उपभोग स्वाद अथवा लोकाचारके लिये करते हैं तो यह पाप है, पशुजीवन-के प्रति बलात्कार है। प्रकृतिने सभी मनुष्यों और पशुओंको जीनेका समान अधिकार दिया है। पशुओंकी हत्या करना हिंसा है; अतएव जो मनुष्य मांसाहार करते हैं, वे भी प्रकारान्तरसे हिंसा ही करते हैं। यदि मांसका सेवन रुक जाय तो पशुओंकी हत्या भी स्वाभाविक ही बंद हो जाय।

यूरोप और अमेरिका आदि मांस-सेवन करनेवाले देश हैं, पर बहुत दिनोंतक मांसाहार-सेवनके पश्चात् वहाँके लोग भी अब शाकाहारकी महत्ताको मानने लगे हैं। कई शाकाहारी क्लब और संस्थाएँ स्थापित हो गयी हैं, जो निरामिष भोजनकी उपादेयताका प्रचार करती हैं। संसारके समस्त देशोंकी अन्ताराष्ट्रिय समितिने भी यही प्रस्तावित किया कि मांसका सेवन सैनिकोंके लिये कतई अपेक्षित नहीं है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि अच्छे स्वास्थ्यके लिये उपयुक्त सभी आवश्यक प्राकृतिक तत्त्व शाकाहारी भोजनमें विद्यमान है।

यूरोपियन देशोंके लोग अब निरामिष भोजनके चमत्कारोंका अनुभव कर रहे हैं। उन्होंने खुले आम इसकी उपादेयताको स्वीकार किया है। शाकाहारी समितिकी 'मिस जेनट इरविण्ड' नामकी एक सदस्याने 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में इस विषयके कई एक प्रभावोत्पादक उद्धरणों एवं लेखोंको प्रकाशित किया है।

श्रीमर्रे रोज एक सुविख्यात आस्ट्रेलियन तैराक हैं। वे जन्मना कट्टर शाकाहारी हैं। स्वास्थ्यको बनाये रखनेकी कला और किस प्रकारके शाकाहारका सेवन किया जाय, उनसे इस बातकी जानकारी प्राप्त करना रोचक होगा।

ई० सन् १९५६ में मेलबोर्नमें हुए आलम्पिक खेलोंमें उन्होंने तीन स्वर्ण-पदक प्राप्त किये। विजेताओं-में उनका दूसरा नम्बर था। वे आस्ट्रेलियाके रहनेवाले हैं और कट्टर निरामिषभोजी हैं। उपर्युक्त खेलके प्रथम पुरस्कार-विजेता श्रीजौनी रोज मूलर भी निरामिष भोजनमें आस्था रखते हैं।

श्रीमर्रे रोज सर्वथा शाकाहार करते हैं। उनके विश्वास-के अनुसार हमारे भोजनको वैज्ञानिक रीतिसे पुनः नया रूप देना चाहिये। आस्ट्रेलियामें वे इस आन्दोलनका नेतृत्व करते हैं। ब्रिटेन एवं अमेरिकामें शाकाहारिताने बहुत प्रगति की है। एक सौ अस्सी वर्ष पूर्व ही शिथिल रूपमें इस आन्दोलनका सूत्रपात हो चुका था। अब तो यह बहुत अधिक व्यापक और प्रबल हो गया है।

श्रीमर्रे रोज अपने नियमके पक्के हैं। वे पशुओंसे उत्पादित ओषधियों एवं इंजेक्शनोंका भी उपयोग नहीं करते। इसी कारण उन्होंने टीका लगवानेसे भी इन्कार कर दिया। (एक बार) उन्होंने अमेरिकाकी यात्रा की। जहाजके डाक्टरोंने कहा कि जो टीका नहीं लगवायेगा, उसे जहाजमें नहीं लिया जायगा। किंतु श्रीमर्रे रोज अपने निश्चयपर अडिग रहे। अन्ततः उन्हें सफलता मिली और जहाजपर यात्रा करनेके लिये अनुमति दे दी गयी। होनोलूलूसे प्रकाशित होनेवाले एक दैनिक पत्रमें यह समाचार निकला कि जब तीन स्वर्ण-पदकोंके विजेता श्रीमर्रे अपने माता-पिताके साथ अमेरिकाके

तटपर उतरे तो वहाँके सरकारी अफसरोंने यह सूचना निकाली कि ये लोग धार्मिक विचारोंके व्यक्ति हैं और शाकाहारी भोजनके कारण इनका स्वास्थ्य सब प्रकारसे ठीक है, अतः उन्हें बिना टीका लगाये उतरनेकी अनुमति दे दी गयी। उन्होंने टीका लगानेके लिये इन्हें विवश नहीं किया।

श्रीमर्रे रोज प्रतिदिन सोयाबीनसे एवं डेयरीमें निर्मित पदार्थोंका, सूर्यमुखीके बीज, मधु, गाजरका रस, सूखा मेवा, चीनी आदिका सेवन करते हैं। ये सभी पदार्थ अतीव पौष्टिक हैं। रूस, एशिया एवं मध्यपूर्वके लोग भी इनसे भलीभाँति परिचित हैं। इनमें सभीमें पोषक तत्त्व भी हैं। विशुद्ध शाकाहारसे बना ताजा रक्त हृदयको मजबूत बनाता है। यह बात श्रीमर्रे रोजकी बड़ी-बड़ी विजयोंसे प्रमाणित हो जाती है।

यह है शाकाहारका गौरव और महत्त्व। इसका समर्थन करनेवाले अन्य अनेकों उदाहरण हैं। आज शाकाहार अपनी चमत्कारिक उपयोगिताके कारण यूरोपके विचारशील विद्वानोंका आकर्षण-बिन्दु बन गया है।

श्रीदवे किलर एक दूसरे आस्ट्रेलियन खिलाड़ी हैं। पैतृक-परम्परानुगत ये सच्चे रूपमें शाकाहार करते हैं। इनका दृढ़ विश्वास है कि शाकाहार मनुष्योंका नैसर्गिक तथा यथोचित भोजन है। स्वस्थ रहने और खेलोंके योग्य बननेके लिये शाकाहार ही उपयुक्त है। इनके पिता श्रीवाल्टर किलर महोदय अपनी साठ वर्षकी आयुमें अब भी दौड़में प्रतिद्वन्द्वियोंसे मुकाबला करते और अपने पुत्र श्रीदवेको खेलोंके प्रमुख स्थलोंके लिये तैयार करते हैं।

श्रीदवे किलर एक चतुर साइकिल-चालक हैं। इन्होंने साइकिलकी अनेकों दौड़ोंमें पुरस्कार प्राप्त किया है। ई० सन् १९५७ में ये सफलताके शिखरपर पहुँच गये और दौड़में विजय प्राप्त की। नार्थ रोडपर ४७८ मील चलकर इन्होंने रेकार्ड स्थापित कर दिया। यह इनकी प्रमुख सफलता थी। समूचे देशमें इनका दूसरा नंबर रहा। 'साइक्लिङ्ग' (Cycling) मासिक-पत्रके सम्पादकने अपने तीस वर्षोंके अनुभवके पश्चात् ४७८ और ७०३ मीलके रेकार्डोंके लिये इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। कठोर शीतमें सत्तर प्रतिद्वन्द्वियोंके बीच श्रीदवे किलरने यह रेकार्ड स्थापित किया। नार्थ क्लब रोड सन् १८८६ में स्थापित हुआ था और श्रीदवेकी यह विजय क्लबके लिये बड़े गौरवकी वस्तु बन गयी।

श्रीदवे किलर और उनके पिता—दोनो शाकाहारी साइक्लिङ्ग और एथलेटिक क्लबके मेम्बर हैं। इसकी स्थापना सन् १८९७ में हुई थी। इस क्लबने हमेशा रेकार्ड स्थापित किये हैं। इसके सदस्योंने अनेकों स्थलोंपर सफलता प्राप्त की है। कुछ ही महीने पूर्व श्रीदवे किलरने स्कॉटलैंडमें २ दिन, तीन घंटे और २४ मिनटमें ९७० मील साइकिलपर चलकर एक नया रेकार्ड स्थापित किया है।

एक तीसरा उदाहरण है श्रीबिल पिकरिंग नामके एक शाकाहारी तैराकका। इन्होंने सन् १९५५ के ग्रीष्ममें इंग्लिश चेनलको पार करनेका उद्योग आरम्भ किया। कोई उनको जानता न था। १४ घंटे और ६ मिनटमें पूरी इंगलिश चेनल पार कर ली और राष्ट्रके वीरोंमें इनकी गणना होने लगी। श्रीबिल पिकरिंग महोदय एवं उनकी इस महान् सफलतासे शाकाहारिताको बड़ा बल मिला। वे एक विनोदशील प्रकृतिके अच्छे खिलाड़ी हैं और अपनी तुलना अखरोटसे करते हैं; इनका सुन्दर स्वभाव है। इनका यह दृढ़ विश्वास है कि उनकी यह सारी सफलता शाकाहारी भोजनका परिणाम है।

श्रीपिकरिंग महोदयका यह दावा है कि वे किसी भी मांसाहारीकी अपेक्षा अधिक सशक्त, पराक्रमी एवं स्वस्थ हैं। इनका कथन है कि शाकाहारी भोजन मनुष्यका स्वाभाविक भोजन है। इससे आयु बढ़ती है और इससे मनुष्य सुखी, संतुष्ट और शान्त रहता है। इनका भोजन प्रमुखतया मधु, फल, सलाद, खजूर, पनीर, सैंडविच एवं अन्यान्य दूधसे बनी सामग्री है। इस भोजनपर निर्वाह करनेवाले व्यक्तिको कभी वातव्याधि आदि रोग नहीं होते। चैनलको तैरकर पार करनेकी प्रतियोगिताके पूर्व ये सैंडविच एवं पनीर एवं घरमें तैयार किये गये आटेकी रोटीका भोजन किया करते थे। ये सदा हाथकी चक्कीसे पिसे आटेको ही उपयोगमें लेते हैं।

जिस समय श्रीपिकरिंग महोदय इंग्लिश चैनलको पार करके घर आये, सैकड़ों मनुष्योंकी भीड़ उनका स्वागत करनेके लिये उमड़ पड़ी। घंटोंतक सड़कपर यातायात अस्त-व्यस्त रहा। 'लंडन टाइम्स' ने ७ सितम्बर १९५५ के अपने पत्रमें प्रमुख रूपसे इस सफलताका समाचार "The Champion Swimmer and Vegetable Diet" शीर्षकसे निकाला। उसमें पिकरिंग महोदयके प्रतिदिनके भोजनका विवरण था, जो सर्वथा निरामिष एवं प्राकृतिक था। आज भी यदा-कदा इंग्लैंडके समाचार-पत्र शाकाहारपर इनके विचारोंको प्रकट करते हैं। इंगलैंडके एक पत्रमें सम्पादकीय स्तम्भमें शाकाहारकी महत्ताको विस्तृत रूपसे जनताके समक्ष रखा गया। सरकार भी शाकाहारी क्लबोंको प्रोत्साहन देती है। श्रीबिल इस समय २८ वर्षके हैं। मोरकम्बेकी खाड़ीमें तैरनेकी प्रतियोगितामें भी ये प्रमुख तैराक थे। इंगलिश चैलनको तैरकर पार करनेवालोंमें ये सर्वप्रथम शाकाहारी हैं। इन्होंने कई स्थानोंपर स्वास्थ्यप्रद प्राकृतिक निरामिष भोजनके प्रचारार्थ अनेकों क्लबों और संस्थाओंकी स्थापना की है। इनसे सम्बन्धित कई दूकानें एवं होटल भी हैं।

ग्रेट ब्रिटेनमें कई शाकाहारी क्लब हैं, जिनमें श्रीबिल पिकरिंग महोदयका सदा ही सम्मानित अतिथिकी तरह स्वागत किया जाता है और सार्वजनिक आयोजनोंपर तो इन्हें विशेषरूपसे आमन्त्रित किया जाता है।

कुछ ही दिन हुए, मेरे एक मित्रने पश्चिमी जर्मनीकी यात्रा की। उन्होंने मुझे बतलाया कि वहाँ अनेकों स्थानोंपर दुग्धशालाएँ खुली हुई हैं और वहाँ उनका प्रचार भी पर्याप्त है। दूध, दही एवं शिखरनकी सभी दुग्धशालाओंमें बहुत माँग रहती है। इन दुग्धशालाओंपर बड़े-बूढ़ोंकी भी भीड़ सदा लगी ही रहती है। दही आधपाव-की प्यालीमें विशेषरूपसे जमाया जाता है, जिसे लोग चीनी या शहद मिलाकर खाते हैं और कुछ गुड़के साथ सेवन करते हैं। गुड़को लोग 'पीली चीनी' (Yellow Sugar) के नामसे पुकारते हैं। कई भोजनालय तो अपनी तालिकामें इसकी विज्ञप्ति निकालते हैं कि विशेष रूपसे जमाया हुआ होनेसे यह दही अधिक टिकाऊ है। मेरे मित्रका कथन है कि लंदनमें बहुत-से शाकाहारी भोजनालय हैं, जो अधिकांशतः भोजनके समय अंग्रेजोंसे भरे रहते हैं, कठिनतासे कोई खाली जगह मिलती है।

पाश्चात्त्य जगत्‌ने अब शाकाहारके चमत्कारोंको देख लिया है। शाकाहारका वहाँ बहुत प्रचार हो रहा है और जनता भी इसकी सराहना करने लग गयी है। अंग्रेजी समाचार-पत्र भी प्रमुखरूपसे इसका प्रचार करने लगे हैं। किंतु भारतमें हम इससे नितान्त विपरीत देखते हैं। हमारे भाई दिन-प्रति-दिन मांसाहारी होते जा रहे हैं। (सरकारी एवं अर्धसरकारी संस्थाएँ मांसाहारका प्रचार कर रही हैं। ×)

× हमारी सरकार तो खुले आम मांसाहारका प्रचार

आर्थिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक—सभी दृष्टियोंसे मनुष्यके लिये शाकाहार ही सर्वोत्तम आहार है। यह निर्विवाद सत्य है और लोग इसे मानते भी हैं; तथापि खेद है कि मांसाहारका संक्रामक रोग बढ़ता ही जा रहा है। जो कठोररूपसे शाकाहारी हैं, वे भी आजकलकी दूषित हवामें बहकर अविवेक तथा कुसङ्गके कारण मांसाहार करने लगे हैं। यह पतनकी ओर ले जानेवाली हमारी महान् मानसिक दुर्बलता है। (अंडोंको तो लोग निरामिषतक कहने लगे हैं।)

हवा बदलनेके लिये लोग पहाड़ोंपर जाते हैं। वहाँकी हरी-भरी वनस्पतियाँ एवं प्राकृतिक दृश्य, फल एवं ताजी तरकारियाँ बरबस मनको अपनी ओर आकर्षित करके चित्तको प्रसन्नतासे भर देती हैं। अब एक कसाईखानेके समीप खड़े होकर इसकी तुलना कीजिये। दम घुटानेवाली दुर्गन्ध, खूनके चकत्ते, पशुओंकी चीत्कारका दृश्य—यह सब कितना बीभत्स है। क्या यही पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि मनुष्यको स्वभावसे ही मांसाहारसे घृणा है।

हमें सदा शुद्ध एवं स्वच्छ फल ही खानेमें अच्छे लगते हैं, जब कि मांस जीवित पशुओंके शरीरमें स्थित मूत्रादि अन्यान्य भीतरी मलिन पदार्थोंके साथ मिला रहता है। इससे पूर्णतया स्पष्ट है कि पका और कच्चा मांस हिंसामय तो है ही, इस तरहके हानिप्रद मलिन द्रव्योंसे संयुक्त रहनेके कारण किसी भी तरह मनुष्यके भोजनके उपयुक्त नहीं है।

वैज्ञानिकोंने भी शरीरके अवयवोंके ध्यानपूर्वक अध्ययन एवं परीक्षणके पश्चात् इस बातकी घोषणा की है कि शाकाहार ही मनुष्यका सर्वोत्तम प्राकृतिक आहार है। मांसका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह सर्वथा अप्राकृतिक है। शाकाहार सब प्रकारसे सस्ता एवं मितव्ययसाध्य है। यह सुलभ भी है। इसे टिकाकर बहुत दिनोंतक रखा भी जा सकता है।

दया करना सार्वभौम धर्म है। जिनकी न्यायमें आस्था है, वे कभी मांसका सेवन नहीं करेंगे। न वे हृदयसे कभी मांसके लिये किये जानेवाले पशुओंके निर्दयतापूर्ण वधमें शरीक ही होंगे। यदि आप मांसाहारी हैं तो हमारी आपसे विनम्र प्रार्थना है कि आप 'निरामिषभोजी' (शाकाहारी) बनिये। अपने मांसाहारी भाइयोंको समझाइये। वे भी कट्टर शाकाहारी बनें और शाकाहारका प्रचार करें। इस प्रकार करनेसे जगत्में शान्ति एवं अहिंसाकी स्थापना होगी और सुखका विस्तार होगा।

कर ही रही है। सरकारी योजनाओंमें करोड़ों रुपये मछली-उद्योग, सूअर-उद्योग आदिके लिये रखे गये हैं। 'भारत-सेवक-समाज' सरीखी संस्थाके द्वारा—जिसको सेवा-कार्यके लिये संघटित सार्वजनिक संस्था बताया जाता है—मांस-मछलीका प्रचार कराया जाता है। पिछले दिनों दिल्लीके समीप कैरेला ग्राममें भारत-सेवक-समाजकी ओरसे छात्राओंके ग्रीष्म-शिविरकी योजना की गयी थी। इस शिविरमें सामाजिक कार्योंके साथ-साथ यह भी बताया गया था कि जलसे निकल भागी हुई मछलियोंको किस तरह पकड़ा जाय; तथा ग्रामकी शाकाहारी जनताको मछलीके व्यवहारसे होनेवाले लाभ आदि समझाना और मछलियोंके उत्पादनसे देशको लाभ होगा, इसका प्रचार करना भी इस योजनाका एक उद्देश्य था। जो सर्वथा शाकाहारी है, उस बेचारी भोली जनताको वंश-परम्परासे रुपये कमानेके लोभसे मछलीके उत्पादनकी बात सिखायी जाय, यह कितने दुःखकी बात है। भारत-सेवक-समाजके लिये तो यह बड़ी ही अशोभनीय चेष्टा है। सरकार जगह-जगह नये कसाईखाने खोलनेकी बात सोच रही है। यह सब हिंसात्मक कार्य देशके लिये कितने घातक होंगे, इसपर विचार करनेसे ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पश्चात्तापद्वारा एक सर्पकी अपने पूर्वजन्मके ऋणसे मुक्ति

दो वर्ष पूर्व मेरे एक परिचित रेलवे-तार-विभागके इंस्पेक्टर श्रीशिवदासजी शर्मा पुष्टिकरने मुझे एक घटना सुनायी, जब कि मैं तथा वे बीकानेरसे श्रीगङ्गानगरके लिये रेलद्वारा एक ही डिब्बेमें यात्रा कर रहे थे।

उन्होंने कहा कि प्रायः तीस वर्ष पूर्वकी घटना है, जिन दिनों वे मकराणा रेलवे स्टेशन (तत्कालीन जोधपुर रेलवे) पर तार-बाबू नियुक्त थे। एक दिन संध्याकी गाड़ीसे एक सुसम्पन्न वैश्य-दम्पति उक्त स्टेशन-पर उतरे, उनके साथ एक डेढ़ वर्षका बालक भी था। उन्हें दूसरे दिन प्रातःकाल ऊँटकी सवारीद्वारा अपने ग्रामको जाना था; अतएव वे रात्रिविश्रामके निमित्त धर्मशालामें, जो स्टेशनके निकट ही थी, ठहर गये। स्टेशनसे गाड़ी चलनेके कुछ ही मिनट पश्चात् एक भयानक घटनाका सूत्रपात हुआ, जिसे देखकर सेठजी, उनकी पत्नी तथा अन्य उपस्थित सभी लोग डरके मारे काँपने लगे। छोटा लड़का धर्मशालाके कच्चे आँगनमें खेल रहा था। कुछ ही क्षण उपरान्त कहींसे एक काला नाग चला आया और बालकके चारो ओर कुण्डली मारकर, उसके मुँहके सामने अपना फन नीचेको झुका-कर बैठ गया; इधर बालक आँगनसे धूल उठा-उठाकर उसके फनपर डालने लगा। उन दोनोंका यह एक प्रकार-का खेल बन गया; परंतु जैसे ही बालकके माता-पिता तथा अन्य मनुष्योंकी दृष्टि उस ओर गयी, उन सबको कँपकपी छूट गयी; किंतु साहस किसका कि इनके इस खेलमें दखल दे। सेठ-सेठानी बेचारे बुरी तरह रोने लगे। रोनेके अतिरिक्त वे कर भी क्या सकते थे। इतनेमें एक ऊँटवाला, जो जातिका राजपूत था, बालकके माता-पिताके पास आकर कहने लगा—'मेरे पास बंदूक है तथा मुझे पूर्ण आशा है कि मेरा निशाना अचूक होगा; परंतु बंदूक मैं तब चलाऊँ, जब तुम यह लिख-कर दे दो कि विधिवश यदि बालकको कुछ हो जाय तो मैं दोषी न ठहराया जाऊँ।' बालकके माता-पिताने स्वीकार कर लिया तथा सेठजीने ऐसा ही लिखकर दे दिया; क्योंकि और कोई उपाय भी नहीं था। राजपूत युवकने बंदूक छोड़ी, निशानेने सोलह आने काम किया। साँप मर गया। बालक दुर्घटनासे बच गया। सेठ-सेठानीकी प्रसन्नताका पार न रहा। उन्होंने राजपूत युवकको कुछ पारितोषिक देना चाहा, परंतु उसने कुछ नहीं लिया। दर्शकोंने उसे उसकी वीरता तथा निशानेकी सचाईके लिये बधाई दी।

परंतु महान् खेद कि प्रातःकाल, पहले ही क्षणमें, सोकर उठनेवालोंने देखा कि वह ऊँटवाला राजपूत युवक सर्पदंशनद्वारा मरा पड़ा है; उसके पाँवमें साँप काटनेका निशान विद्यमान था। लोगोंमें दौड़-धूप होने लगी। इतनेमें सौभाग्यवश एक 'सर्पविद्या-विशारद' सज्जन आ पहुँचे और कहने लगे—'भाइयो ! मैं साँपकाटे-का इलाज तो नहीं जानता; परंतु अपनी विद्याके प्रयोग-से किसी माध्यमद्वारा मैं सर्पकी आत्माको बुलाकर पूछ सकता हूँ कि उसने इसे क्यों काटा तथा उससे प्रार्थना भी कर सकता हूँ कि वह सदेह प्रकट होकर इस व्यक्तिका विष चूस ले जिससे कि वह जी उठे (क्यों-कि साँपका काटा हुआ तत्काल ही मर नहीं जाता।)' उपस्थित जनोंका कौतूहल और भी बढ़ा।

एक आठ-दस वर्षके बालकको माध्यम बनाये जाने-का प्रबन्ध कर दिया गया। ज्यों ही उन सर्प-विद्या-विशेषज्ञ महोदयने मन्त्रोच्चारण किया त्यों ही साँपकी आत्मा माध्यमद्वारा बोल उठी—'मैं वही कलवाला साँप

हूँ। गोली लगनेपर मैं हतप्राण-सा तो हो गया था, परंतु मेरे शरीरके दो टुकड़े नहीं हुए थे और वैसे ही उसे पासवाली काँटोंकी बाड़पर फेंक दिया गया था। अतः रात्रि होनेपर पूरबी हवा चलते ही मेरे शरीरमें पुनः प्राण संचरित हो उठे तथा मेरा घाव भी कुछ ठीक हो गया। मध्य रात्रिके समय मैं धीरे-धीरे चलकर इस व्यक्तिके पास आया तथा इसकी निद्रितावस्थामें ही इसके पाँवमें काटकर अपना बदला चुका लिया।'

उन सर्पविद्या-विशारद महानुभावके विनय करनेपर कि 'सर्पदेवता! अब कृपया प्रकट होकर इस व्यक्तिका विष चूस लें।' उसकी आत्माने उत्तर दिया कि 'मैं इस सेठके पुत्रका तीन जन्म पहलेका ५००) रुपयेका ऋणी हूँ, जब कि यह तथा मैं दोनों मनुष्य-योनिमें थे। उस जन्ममें मैं ऋणोन्मुक्त नहीं हो सका तथा मृत्युके उपरान्त मनुष्येतर योनिमें जन्म मिलनेके कारण मेरे लिये ऋणोन्मुक्त होना असम्भव था ही। संयोगवश कल इस बालकको देखकर मैं पश्चात्ताप प्रकट करनेके हेतु इसके चारो ओर कुण्डली मारकर नतमस्तक होता हुआ क्षमायाचना कर रहा था तथा यह मेरे सिरपर धूल डालकर प्रकट कर रहा था कि 'तुझे धिक्कार है; तूने तीन जन्म ले लिये, परंतु अभीतक मेरा ऋण न उतार सका।' इस प्रकार हम दोनो परस्पर अपने भाव प्रकट कर रहे थे कि इस राजपूत युवकने आकर मुझ निरपराधको मार दिया। अब यदि मेरा यह ऋण मेरे समक्ष चुका दिया जाय तो मैं प्रकट होकर इसका विष चूस सकता हूँ।' लोगोंका कौतूहल प्रतिक्षण बढ़ रहा था। तुरंत ही उपस्थित सज्जनोंमेंसे एक धनाढ्य महानुभावने पाँच सौ रुपये निकालकर उस बालककी गोदमें डाल दिये। और आश्चर्य कि ऐसा करते ही वह सर्प एक ओरसे दौड़ता हुआ आया और उस राजपूत युवकका विष चूसने लगा। दो ही तीन मिनटमें वह युवक विषरहित होते ही चेतनामें आ गया। जब उसे सारा ज्ञात हुआ, तब उसने कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन धनाढ्य महानुभावको खड़ा-खड़ी अपना ऊँट बेचकर तथा बाकी कुछ रुपये अपने वहींके किसी जान-पहचानवालेसे उधार लेकर दे दिये और भगवान्‌को धन्यवाद देता हुआ अपने ग्राम (जो निकट ही था) की ओर चल पड़ा। वह साँप भी वहाँसे चला गया। यह एक आँखोंदेखी घटना है। इसकी सत्यतामें लेशमात्र भी संदेहको स्थान नहीं है।

—लक्ष्मणप्रसाद विजयवर्गीय

(२)

भगवान्‌का दूत

कोई दस-बारह वर्ष पुरानी बात है, दिल्लीमें मैं एक मकानके पहले मंजिलपर दो कमरोंमें कुटुम्बके साथ रहता था। एक खिड़कीके पास मैंने टेबल और कुर्सी लगा रखे थे और वहीं अध्ययन इत्यादि किया करता था। मेजके ठीक ऊपर एक रोशनदान था। इस रोशनदानमें कोई २०–२५ ईंटें डाँटकर भरी हुई थीं, जिससे धूल और पानी अंदर न आये।

एक दिनकी बात है, रातके लगभग आठ बजेका समय था। जोरकी हवा चल रही थी, जाड़ेके दिन थे और थोड़ी वर्षा भी हो रही थी। मैं कुर्सीपर बैठा कुछ पढ़ रहा था या वैसे ही अलसिया रहा था। मारे हवाके सब बंद दरवाजे भड़भड़ा रहे थे। कमरेके अंदर बैठा मैं सुरक्षाका अनुभव कर रहा था। इतनेमें मेरे दरवाजेके किवाड़ किसीने बाहरसे भड़भड़ाये। मुझे आलस्य आ रहा था। एक बार तो सोचा, दरवाजा खोल दूँ। फिर विचार किया कि शायद यह शब्द हवाके तेज झोंकेके कारण आया हो। इसलिये मैं बैठा ही रहा। किंतु फिर और जोरसे दरवाजा भड़भड़ाया। अन्ततः मैं उठा और मैंने दरवाजा खोला। देखता क्या हूँ कि हमारे एक पुराने कानपुरनिवासी मित्र वर्षामें भीगे, सर्दीके मारे कुड़कुड़ाते बाहर खड़े

हैं। मैंने आश्चर्यमें भरकर अपना मुँह खोलना ही चाहा था कि पीछे कुर्सीपर बड़े जोरका धमाका हुआ। देखता क्या हूँ ऊपर रोशनदानसे सारी ईंटें हवाके झोंकेके साथ कुर्सीपर गिर पड़ी थीं। केवल एक मिनट पहले ही अगर यह घटना हुई होती तो मेरे सिरकी लुब्दी बन गयी होती। मैं अवाक् रह गया। मित्र भी देखते ही रहे। जैसे भगवान्‌ने ही उस आँधी, पानी और ठंढमें रातके समय केवल मुझे उस समय कुर्सीपरसे हटानेके लिये ही उन्हें भेजा हो। जब कभी भाग्य या भगवान्‌की बात चलती है, तब यह घटना मेरी आँखोंके सामने नाचने लगती है।

—वि० य० घोरपड़े

(३)

सहानुभूति

अमेरिका होकर आये हुए एक भाईसे वहाँके जीवनकी बहुत-सी बातें जाननेको मिलीं। बात-बातमें उन्होंने एक सुन्दर प्रसङ्ग सुनाया, जो उन्हींके शब्दोंमें यहाँ लिख रहा हूँ—

अमेरिकाके लोगोंकी बहुत-सी बातें अच्छी लगीं। परंतु वे एक-दूसरे देश-बन्धुके प्रति जो सहानुभूति रखते हैं, उसकी बात तो मुझे बहुत ही पसंद आयी। एक दिन हमलोग बसकी बाट देखते जब 'क्यू' में खड़े थे, तब एक वृद्ध सज्जन भी आकर हमारे क्यूमें शामिल हो गये। बस आयी और हम सभी उसपर सवार हो गये। कंडक्टर जब टिकट देने आया, तब वे वृद्ध अपनी जेब टटोलने लगे और तुरंत ही वे नीचे उतरकर ऐसे कुछ ढूँढ़ने लगे, जैसे उनका कुछ खो गया हो। उनके चेहरेपर चिन्ता छायी थी। पूछनेपर उन्होंने बताया कि आज वेतन मिलनेका दिन था और दस पौंडके लगभग वेतनकी रकम लेकर वे अपने परगनेकी ओर जा रहे थे, जहाँ उनका छोटा-सा कुटुम्ब रहता था; परंतु दुर्भाग्यसे वे पैसे कहीं खो गये। पर मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और मैं नहीं समझ सका कि बसके सभी यात्री नीचे क्यों उतर गये? सभी यात्री एक लाइनमें खड़े हो गये और एक मनुष्य उनमेंसे निकलकर पैसे उगाहने लगा। मैंने यथाशक्ति कुछ दिया। लगभग दस पौंड इकट्ठे होनेपर वृद्धको दे दिये गये। उन वृद्धको मानो जीवन-दान मिल गया हो, ऐसे प्रसन्न होते हुए वे बसमें टिकट लेकर बैठ गये। ('अखण्ड आनन्द' से साभार)

—इज्जतकुमार त्रिवेदी

(४)

यह असाधारण साहस !

श्रीहेरंजल गजानन राव हमारे आश्रमके श्रमदानी युवकोंके अग्रणी हैं। स्काउट-मास्टरकी हैसियतसे बेंगलूरमें उनका एक छोटा-सा शान्ति-पथक भी है। अभी कुछ दिन हुए, बेंगलूर नगरमें 'करगा उत्सव' था। घनी बस्तीके भीतर रातभर मन्दिरोंकी ओरसे यह उत्सव होता है। लाखों लोगोंकी भीड़ चींटियोंके मुआफिक होती है। पुलिसका बन्दोबस्त बाकायदा रहता है। भीड़को कंट्रोल (नियन्त्रित) करना बड़ी मुसीबतका काम है। थोड़ी-सी गलती भी भयंकर परिणाम पैदा कर सकती है।

उत्सवमें एकाएक एक भीड़ नजर आयी। डी० एस० पी० पुलिस भीड़के बीच! और 'पुलिसोंको मारो-पीटो'की चारो ओरसे दर्शनेच्छु लोगोंकी आवाज। एक सिर फूटे हुए, खूनसे सराबोर एक पथिकके पकड़में एक कान्स्टेबिल! कहा गया कि पुलिसके लाठी-प्रहारसे ही यह आदमी घायल हुआ है। 'पीटो पुलिसोंको' एक ही नारा! एक निमिषमात्रका और विलम्ब होता तो खून-खराबी शुरू हो जाती।

श्रीगजाननजी भीड़के अंदर तीरके मुआफिक उस घायलके पास पहुँचनेकी कोशिश करने लगे। पुलिस-

अफसरोंने रुकावट डाली । 'मैं स्काउट हूँ, मैं उस घायलकी हिफाजत करूँगा । छोड़िये मुझे ।' गजाननजी चिल्लाये ।

एक पुलिस-अफसरने, जो उनके परिचितोंमेंसे था, जानेके लिये रास्ता कर दिया । बस, हिकमतसे उस घायलको और उसकी पकड़में रहे पुलिसको गजाननजीने तुरंत अलग कर दिया । घाव देखा—घाव लाठीका नहीं था, वह था तेज तलवारका । गजाननजीको हिम्मत हुई । उस घायलको और घायलोंके साथकी क्रुद्ध भीड़को लेकर नजदीककी पुलिस-चौकीपर अपने शुश्रूषा-पथकके साथ वे आगे बढ़े । शुश्रूषा भी चली और मामलेका खुलासा हुआ । घायलने भी मंजूर किया । 'करगा' पालकीके जाते समय गलतीसे उसका पाँव पालकीसे टकरा गया था । क्षमा-याचनाके लिये नीचे झुकते समय, पालकी-रक्षकोंके हाथकी तलवार सिरपर टकरायी, चार इञ्चका गम्भीर घाव उसीका परिणाम था ।

श्रीगजाननजीके इस शान्ति-कार्यकी मुक्त प्रशंसा करते हुए पुलिस और क्रुद्ध भीड़ फिर जुलूसमें शामिल हुई । पुलिस-अधिकारियोंने गजाननजी और उनके साथियोंका गौरव किया । उनके शान्ति और सेवा-कार्यकी सरकारी रजिस्टरमें नोंध की गयी । शान्ति-सैनिककी जय ! ('भूदान' से) —द० मं० बुरडे

(५)

आदर्श धर्म

हमारी सात मित्रोंकी मण्डली दीपावलीकी छुट्टीमें 'गोरादरा' नामक गाँवमें सैर करनेको निकली थी । वह गाँव सूरत शहरसे लगभग दस मील दूर था । दोपहरके साढ़े बारह बजे थे । सूर्यकी प्रचण्ड किरणें हमारे मस्तिष्कको जला रही थीं । पानीके बिना हमारा गला सूखा जाता था । एक मित्रने कहा—'भाई ! मुझसे तो अब चला नहीं जाता । थोड़ा-सा पानी मिल जाय तो पैर चलें; नहीं तो बस, बड़ी थकान हो रही है ।' बात सच थी । हम सबके पैर भी लड़खड़ा रहे थे । एक तो पानीके बिना हम सब व्याकुल हो रहे थे, दूसरे रास्ता भी भूल गये थे । इसलिये हम बहुत घबरा रहे थे । रास्ता बिल्कुल निर्जन-सा था । वह मित्र बार-बार पुकारता था कि 'पानी लाओ, मैं मर रहा हूँ ।' इतनेमें ही वह बेहोश हो गया । हम सब घबरा उठे । न जाने अब क्या होगा, हमारे मनकी पीड़ा असह्य थी ।

किंतु इतनेमें ही दिखायी दिया कि कुछ दूरपर एक स्त्री पानीसे भरा बेड़ा लेकर जा रही है । हमने पुकारा, 'ठहरो, बहिन ! हमको पानी चाहिये ।' वह बहिन ठहर गयी । हमने उसके पास जाकर देखा, वह एक बुढ़िया माई थी । बहिन नहीं, माँ-जैसी !

'माँ, हमें पानी दो । हमारा एक मित्र तो पानीके बिना बेहोश होकर पड़ा है । देखो, माँ, देखो ! जल्दी पानी दो; हम तुम्हारा उपकार कभी नहीं भूलेंगे, माँ ।'

'अच्छा, बेटा ! लो यह पानी, उसको तुरंत पिलाओ ।' इतना कहकर उस बुढ़िया माईने पानी पिलाना शुरू किया । वह मित्र पानी पीते ही होशमें आ गया । हम सबने भी पीया । वह बुढ़िया बोली—'बेटा ! सबने पानी पी लिया न ? और चाहिये ?' हमने कहा, 'नहीं माँ, सबने पी लिया ।' जेबमेंसे एक रुपयेका नोट निकालकर मैं उस बुढ़ियाको देने लगा । उस बुढ़ियाने कहा, 'यह क्या करते हो, बेटा ! मुझे ये पैसे लेकर क्या करना है ? मैं तो प्यासे मनुष्योंकी प्यास बुझाना ही अपना धर्म समझती हूँ । यह एक रुपया कहाँ तक रहेगा ? यदि मैं तुम्हारा यह रुपया ले लूँगी तो मेरा भगवान्, जिसने मुझे यह काम सौंपा है, मुझसे रूठ जायगा; इस पानीके बदलेमें मैं कुछ भी अङ्गीकार करूँगी तो मेरा सहज धर्म नष्ट हो जायगा । नहीं, बेटा ! नहीं, यह माया मुझे नहीं चाहिये ।' उस बुढ़ियाने इतना कहा और वह चलती बनी ।

हम सब आश्चर्यमें पड़ गये । थीं तो बिल्कुल बेपढ़ी-लिखी अज्ञानी, किंतु उनका ज्ञान आदर्श था । कितना बड़ा आदर्श धर्म ! कहाँ भगवान्‌की श्रद्धासे प्रार्थना करती हुई वह अबोध बुढ़िया और कहाँ हम अभिमानी शहरवाले, जो पैसेको ही धर्म समझते हैं !

हमारे मस्तक उस बुढ़िया माईके चरणोंपर नत हो गये और हम सबने उसको वन्दन एवं नमस्कार किया ।

—कञ्चनलाल चीमनलाल राजीवाला

(६)

राजाने मुहूर्त्तकी रक्षा की

संध्याका ढलता समय था । वर-राजा और बराती सरकारी बसकी बाट देखते हुए रास्तेमें खड़े थे । एकके-बाद-एक सरकारी बसें धूल उड़ाती चली जा रही थीं । पता नहीं, उस दिन क्यों वे सब खचाखच भरी थीं । बरातियोंके हृदय अधीर हो चले । मुहूर्त्त टल जानेकी आशङ्का होने लगी । स्त्रियोंने सोचा, कहीं यों अधर लटकते हुए ही रात न बितानी पड़े । बच्चोंके मन तो यह खेल ही था । सबसे अधिक चटपटी तो किसी बहिनके लड़ैते भाईको लग रही थी ।

इतनेमें एक बस आयी; पर वह भी इतनी लदी हुई थी कि अकेले वरको भी उसमें बैठाकर भेजना सम्भव नहीं था । बस अपनी गर्बीली चालसे चल दी । परिस्थितिकी गम्भीरता बड़े-बूढ़ोंके चेहरोंपर चमक उठी । कैसे यह समस्या हल हो, सभीके मनमें यह विकट प्रश्न उत्पन्न हो गया । हो-हल्लेमें दिवावसान हो गया और दूर क्षितिजपर································ ।

मोटरके दो दीपकोंकी रोशनी आकाशमें चमकी । ज्यों-ज्यों वह ज्योतिका प्रवाह निकट आता गया, त्यों-ही-त्यों सबके मनोंमें आशाका संचार-सा होने लगा । मनमें शङ्का-कुशङ्काएँ उत्पन्न होने लगीं, पर आशास्रोतमें स्नान करना तो सभीको अच्छा लगता है न ?········ ।

मोटर पास आयी, तब तो रही-सही आशा भी टूट-कर चूर हो गयी; क्योंकि वह 'भव्याङ्गना' तो वहाँके राजा साहेबकी थी और स्वयं महाराजा साहेब महारानीके साथ राजधानीकी ओर वापस जा रहे थे । राजाका ओजस् विलक्षण था और वहाँकी प्रजा राजापर मरी जाती थी । सबने मोटरके पास आकर भाव-लहरियोंसे निहारकर अभिवादन किया । महाराजाने मोटर रोक दी ।

राजाके पूछनेपर स्थिति बतला दी गयी । राजाके श्रेष्ठ हृदयने परिस्थितिका अनुभव किया । उन्होंने तुरंत लाड़ले वर-राजाको, वर-भगिनीको और वरके माता-पिताको अपनी 'लिमोज विंडसर' कारमें बैठा लिया और शेष बरातियोंको पीछेसे आनेवाली 'मोटर वैगन' में चढ़कर आनेके लिये कहा ।

पंद्रह मीलका रास्ता तै करके महाराजाने बरातको उसके नियत स्थानपर उतार दिया । ये राजा थे पोर-बंदरके महाराणा श्री········ । ('अखण्ड आनन्द'से)

—महेश भाई वैष्णव

(७)

सहजधर्म

× × ×

सन् १९५२ की बात है । श्रीसत्यस्वरूप महात्मा शाहंशाहजी अमरकण्टकसे शहडोल जा रहे थे । गाड़ीमें बहुत अधिक भीड़ थी, परंतु महात्माजीको शहडोल जाना अत्यावश्यक था । वे उसी भीड़में बड़ी सावधानीसे घुस गये और चुपचाप एक स्थानपर जाकर खड़े हो गये । वहींपर एक अप-टू-डेट सज्जन बैठे हुए थे । उन्होंने महात्माजीको देखकर बिगड़कर कहा—'यह ढोंगी साधू खा-खाकर मोटा-ताजा बना हुआ है । हरामकी वस्तु मिलती है और बिना टिकट जहाँ चाहें वहाँ चल पड़ते हैं । इन्हीं ढोंगियोंने तो भारतको

बर्बाद कर दिया है।………चल हट सिरपरसे………' इस प्रकार वे महात्माजीको बुरी-भली सुनाने लगे । महात्माजीने कोई प्रतिवाद नहीं किया, वे खड़े-खड़े मुस्कराने लगे।

उसी समय टिकट-परीक्षक इसी डिब्बेमें टिकट निरीक्षण करनेके लिये आ गया। अप-टू-डेट सज्जन उस टिकटनिरीक्षकको देखकर घबरा गये । इधर-उधर देखने लगे। तबतक उन्हीं सज्जन महोदयसे टिकट-परीक्षकने कहा—'टिकट !' वे तो मुँह बनाने-बिगाड़ने लगे। इतनेमें ही महात्माजीने कहा—'बाबू ! इनका टिकट मेरे पास है, यह लीजिये।' यह सुनकर जब उस टिकट बाबूने ऊपर महात्माजीकी ओर देखा तो उन्हें पहचानकर सभी कुछ छोड़ 'स्वामीजी', 'स्वामीजी' कहता हुआ उनके चरणोंपर पड़ गया और उन्हें उठाकर प्रथम श्रेणीमें ले जाने लगा। वे अप-टू-डेट सज्जन महोदय उठकर रोते हुए स्वामीजीसे कहने लगे—'मुझे क्षमा कर दें।' स्वामीजीने हँसते हुए कहा—'भैया ! इसमें क्षमा-प्रार्थनाकी तो कोई आवश्यकता नहीं। तुमने अपराध ही क्या किया है? वह तो तुम्हारी सहज प्रवृत्ति थी। और मैंने भी क्या किया, जिसपर तुम मेरे कृतज्ञ होते हो? भैया ! मेरी प्रसन्नताका पार नहीं है; क्योंकि मुझ तुच्छकी सेवाको तुमने स्वीकार कर लिया। मैंने कोई नया कार्य थोड़े ही किया। यह तो मेरा सहजधर्म है, जिसका मैंने पालन किया है।' वे सज्जन तो पानी-पानी हो गये।

महात्माजीके इस वाक्यको सुनकर मेरा हृदय हर्षोत्फुल्ल हो उठा। आज भी जब मैं महात्माजीका सहज धार्मिक स्वभाव सोचता हूँ तो मुझे बड़ी प्रेरणा मिलती है।

—मानसकेसरी कुमुदजी रामायणी

सनातन भगवदीय अंशका विकास करना ही मेरा परम कर्तव्य है

'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'—इस सिद्धान्तके अनुसार मैं भगवान्‌का सनातन तथा अभिन्न अंश हूँ। अंशमें अंशीकी शक्ति एवं गुण सदा विद्यमान रहते हैं। मुझमें भी भगवान्‌की शक्ति एवं गुण पूर्णरूपमें विद्यमान हैं। मैंने आजतक उन शक्ति एवं गुणोंकी अवहेलना, अवज्ञा और विस्मृति करके अपनेको शक्तिहीन, अयोग्य, पतित अनुभव किया है; पर अब भगवान्‌की सहज कृपाके प्रकाशमें मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मैं शुद्ध आत्मस्वरूप शक्तिका पुञ्ज हूँ, महान् तेजस्वी हूँ, पूर्ण प्रतिभासम्पन्न हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, वरं आत्मा—महान् आत्मा—परम आत्मा हूँ। मैं अपनी शक्तिका स्वामी हूँ। भगवान्‌का सनातन अंश होनेसे मुझे अपनेको हीन अनुभव करनेका अधिकार नहीं है। ऐसा करके तो मैं अपने आत्मरूपका—भगवान्‌का अपमान कर रहा हूँ। अपने आत्मप्रदेशमें नित्य निवास करनेवाले भगवान्‌को प्रकाशित करना ही मेरा परम कर्तव्य है। अब मैं अपने कर्तव्यकी अवहेलना न करके सदा अपनेको भगवान्‌का सनातन अंश मानकर इस दिव्य भावको अधिकाधिक जाग्रत् कर रहा हूँ और करता रहूँगा।

सनातन भगवदीय अंशका विकास करना ही मेरा परम कर्तव्य है।

कल्याण-चित्रावलियाँ

ये चित्रावलियाँ अधिकांशमें मासिक 'कल्याण' या उसके विशेषाङ्क तथा अंग्रेजी मासिक 'कल्याण-कल्पतरु' या उसके विशेषाङ्कोंके बचे हुए चित्रोंकी बनायी जाती हैं। कभी-कभी इसी साइज (१०"×७॥") के इधर-उधरके बचे हुए और चित्र भी शामिल कर दिये जाते हैं। एक चित्रावलीके चित्र दूसरीमें भी लग जाते हैं। एक ही नंबरकी चित्रावली जब दूसरी-तीसरी बार बनती है, तब उसमें भी कुछ पहलेके और कुछ दूसरे चित्र लगा दिये जाते हैं। इस प्रकार इन चित्रावलियोंका कोई निश्चित स्टैंडर्ड या मापदण्ड नहीं रहता। कभी-कभी इनमें बहुत पहलेके छपे हुए सुन्दर और दुर्लभ चित्रोंके भी दर्शन हो जाते हैं।

यद्यपि ये चित्रावलियाँ बहुत समयसे बराबर बिक्रीमें चलती हैं पर इनका कोई विज्ञापन न देनेके कारण अधिकांशमें स्थानीय ग्राहक ही इनका लाभ उठाते थे। कुछ मित्रोंके आग्रहके कारण अब इन्हें सर्वसाधारणके समक्ष उपस्थित किया जा रहा है।

कल्याण-चित्रावलि नं० १—आकार १०×७॥, सुन्दर बहुरंगे २५ चित्र, मूल्य १।-) डाकखर्च रजिस्ट्रीसहित ॥।≡) कुल २।); कल्याण-चित्रावलि नं० २—आकार १०×७॥, सुन्दर बहुरंगे २५ चित्र, मूल्य १।-), डाकखर्च रजिस्ट्रीसहित ॥।≡) कुल २।); कल्याण-चित्रावलि नं० ३—आकार १०×७॥, बहुरंगे ३० चित्र, मूल्य १।-), डाकखर्च रजिस्ट्री-खर्चसहित ॥।≡) कुल २।); कल्याण-चित्रावलि नं० ४—इसमें बहुरंगे ८, इकरंगे १६, कुल २४ चित्र, मूल्य ॥।), डाकखर्च रजिस्ट्री-खर्चसहित ॥।≡) कुल १॥≡); चारों चित्रावलियोंका एक साथ मूल्य ४॥≡) डाकखर्च १।-) कुल ६)। विक्रेताओंको इनमें भी गीताप्रेसकी अन्य पुस्तकोंकी तरह ही कमीशन तथा फ्री-डिलेवरी आदिकी सुविधाएँ मिलेंगी।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

भूल-सुधार

(१) गताङ्क पृष्ठ १०७० प्रथम कालमकी सातवीं पंक्तिमें छपे हुए 'फूल' शब्दको 'पक्षी' पढ़ना चाहिये।

(२) गताङ्क 'पढ़ो, समझो और करो' शीर्षक लेख पृष्ठ १०७६में सेठ जगमोहनदास और उनकी पत्नी लक्ष्मीके लिये 'गिरधरदासके चाचा-चाची' शब्द भूलसे छप गये हैं। अतः जहाँ-जहाँ चाचा-चाची शब्द आये हैं, वहाँ-वहाँ चचेरे भाई तथा भाभी पढ़ना चाहिये। गिरधरदासके लिये एक जगह 'भतीजे' छपा है वहाँ 'ताऊके लड़के छोटे भाई' और एक जगह 'बेटा' सम्बोधन छपा है वहाँ 'भैया' पढ़ना चाहिये। इसके अतिरिक्त गिरधरदासने एक जगह 'चाचाजी' सम्बोधन किया है वहाँ—'भाईजी' पढ़ना चाहिये।

अनुवाद तथा छपाईमें रही इस भूलके लिये हम मूल लेखक तथा पाठक-पाठिकाओंसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

—**सम्पादक**

रजि० सं० ए० १७५

विश्वके कल्याण और राष्ट्रोंके वास्तविक उत्थानके लिये

मानव-जातिके नैतिक जीवन-स्तरको ऊँचा उठाना आवश्यक है

जबतक जनताके जीवनमें सचाई, ईमानदारी, सरलता, सादगी, सद्गुण, सदाचार, संयम, सद्व्यवहार, त्याग, तपस्या, वैराग्य, ईश्वर-भक्ति, दया, दान, धैर्य आदि दैवी सद्गुणोंका विकास नहीं होगा, तबतक केवल यान्त्रिक विस्तारके द्वारा मानव-जीवनके उत्थानके लिये बनायी जानेवाली योजनाओंसे वास्तवमें उन्नति हो सकेगी, यह संदेहास्पद ही है। परंतु यदि प्रारम्भसे ही बालकोंको सदाचारकी शिक्षा दी जाय, उनके सामने विश्वके मानव, महामानव और अतिमानवोंके उच्च आदर्श उपस्थित किये जायँ तो उनकी विचारधारा सत्यकी ओर अग्रसर होकर उन्हें देशके उत्तम नागरिक बना सकेगी।

आज देशके सामने जो भयानक भ्रष्टाचारोंकी बाढ़ आ गयी है, उसने जनताको दुःखोंके भयानक दलदलमें ढकेल दिया है। यह भयंकर राक्षस मुँह बाये हुए हमारे देशके नैतिक चरित्र-बलको ग्रसकर हमें गहरे गड्ढेमें धक्का दे रहा है। इससे बचनेके लिये देशके विचारवान् मनीषियोंको शीघ्र विचारकर गाँव-गाँव और गली-गलीमें सदाचार और सत्-शिक्षाकी व्यवस्था करनी चाहिये।

गीताप्रेस, गोरखपुरद्वारा प्रकाशित सरल, सुन्दर, सचित्र, सत्साहित्य सस्ते मूल्यमें सभीके लिये उपलब्ध है। 'कल्याण' मासिकपत्र प्रतिमास घर बैठे अल्प मूल्यमें (केवल ७।।) वार्षिक डाकव्ययसहित) प्रतिवर्ष एक सुन्दर आकर्षक और विद्वत्तापूर्ण लेखोंसे परिपूर्ण विशेषाङ्क भी देता है।

चालू वर्षका विशेषाङ्क 'मानवताङ्क' अभीतक प्राप्य है

कल्याण-प्रेमियोंसे आग्रहपूर्वक निवेदन है कि वे कम-से-कम एक-एक नया ग्राहक और बनाकर इस सत्साहित्यके प्रचार और प्रसारमें हमारा हाथ बँटानेकी कृपा करें। वार्षिक मूल्य ७।।) मनीआर्डरसे भिजवावें या वी० पी० भेजनेकी आज्ञा प्रदान करें।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)